इस्लामी क़ानून

9 जनवरी 1948 को लॉ कॉलेज, लाहौर में दिया गया एक भाषण

मौलाना सैयद अबुल आला मौदूदी

यह मूल उर्दू भाषण “□□□□□ □□□□□□” का भावार्थ-आधारित हिंदी रूपांतरण है, जो एक सहायक दस्तावेज़ के रूप में तैयार किया गया है। यह शब्द-दर-शब्द अनुवाद के बजाय मूल के अर्थ और तर्क का अनुसरण करता है।

विषय सूची

तमहीद (भूमिका)

आज लगभग हर देश में, जहाँ मुसलमानों के साथ ग़ैर-मुस्लिम भी बसे हुए हैं, जब अपने देश में इस्लामी क़ानून लागू करने की माँग उठती है तो उनकी ज़बान पर तुरंत कोई-न-कोई एतराज़ आ जाता है। वे पूछते हैं: क्या सदियों पुराना यह क़ानून आज के आधुनिक युग और आधुनिक राज्य की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए काफ़ी हो सकता है? क्या किसी ख़ास ज़माने के लिए बनाया गया क़ानून हमेशा के लिए हर दौर पर लागू किया जा सकता है, और क्या अब पुराने ज़माने की सज़ाएँ एक बिल्कुल अलग दौर में जी रहे लोगों की गर्दन पर फिर से बरसाई जाएँगी? क्या हमारी अदालतें फिर से सख़्ती की फ़ैक्टरी बन जाएँगी, और क्या हम फिर से अपनी ही अदालतों में ग़ुलाम बन कर रह जाएँगे? और फिर, मुसलमान ख़ुद कई फ़िर्क़ों में बँटे हुए हैं, तो किस फ़िर्क़े की फ़िक़्ह को 'इस्लामी क़ानून' के नाम पर लागू किया जाएगा? और यहाँ बसे ग़ैर-मुस्लिम — जिनकी तादाद, दौलत, इज़्ज़त और अपना मज़हब व ज़बान है — यह कैसे मान लेंगे कि उन पर मुसलमानों का मज़हबी क़ानून, जो उनकी अपनी ज़बान में भी नहीं बल्कि मुसलमानों की तालीमयाफ़्ता मज़हबी ज़बान में है, थोप दिया जाए?

इस शिकायत की कोई ठोस बुनियाद नहीं। जो लोग ये एतराज़ उठाते हैं वे अक्सर इसलिए उठाते हैं क्योंकि उन्होंने इस मसले को सिर्फ़ ऊपरी नज़र से देखा है — उन्होंने कभी इसे पूरी तरह और गहराई से हर पहलू से जाँचा नहीं, और यही वजह है कि उनकी हर उलझन उन्हें बहुत गंभीर लगती है।

शुरू में ही यह साफ़ कह देना ज़रूरी है कि जिस क़ानून की यहाँ बात हो रही है, वह किसी शुद्ध धर्मनिरपेक्ष, इलाक़ाई अर्थ में 'मुल्की क़ानून' नहीं है; बल्कि यह एक 'निजी क़ानून' (पर्सनल लॉ) है, जो निजी मामलों में हर मुसलमान अपने मुसलमान होने की हैसियत से पहले ही अपना क़ानून मानता है और उस पर अमल करता है। किसी भी आधुनिक राज्य के अस्तित्व में आने से बहुत पहले इस्लाम ने अपने माननेवालों पर यह ज़िम्मेदारी डाल दी थी, और असल में इस्लाम ने ही सबसे पहले दुनिया को राज्य के क़ानून और व्यक्ति के निजी क़ानून के फ़र्क़ की तालीम दी — यह उसूल कि किसी भी राज्य की आबादी में अलग-अलग मज़हबों के लोगों के निजी मामले उनके अपने-अपने निजी क़ानून के मुताबिक़ चलाए जाने चाहिए। इसलिए किसी भी ग़ैर-मुस्लिम अल्पसंख्यक को इस बारे में कोई फ़िक्र करने की ज़रूरत नहीं: हम यह नहीं चाहते कि हमारे पुराने मज़हबी क़ानून उन पर उनकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़, इस्लाम के अपने बनाए इसी उसूल के ख़िलाफ़ थोप दिए जाएँ — जिस बारे में इस्लाम ने बिल्कुल साफ़ हुक्म दिए हैं।

तो अब असली सवाल सिर्फ़ यही रह जाता है: क्या इस मुल्क में निजी मामलों को चलाने वाला क़ानून हमारा अपना क़ानून होगा? सच कहा जाए तो इसका कोई जवाब नहीं सिवाय इसके कि यह हमारा ही क़ानून होना चाहिए —

वही क़ानून जिसकी सही रहनुमाई से हमने अपनी पूरी ज़िंदगी गुज़ारी है, और यही वह मापदंड है जिसके मुताबिक़ दुनियाभर के हर तबक़े के मुसलमान अपने मामले चलाना चाहते हैं। हम में से जिन्होंने अनगिनत मुसलमानों की जान, माल, इज़्ज़त और ईमान की क़ीमत पर यह मुल्क हासिल करने के लिए मेहनत और जद्दोजहद की है, अगर इस मुल्क की बहुसंख्यक आबादी यह चाहे कि उसका अपना क़ानून लागू हो, और कोई अल्पसंख्यक समूह इस पर राज़ी न हो सके, तो इसमें बहुसंख्यक के अल्पसंख्यक पर ज़ुल्म करने का कोई इल्ज़ाम नहीं बनता।

फिर भी, यह सब मान लेने के बाद भी एक असली सवाल बाक़ी रह जाता है, जो महज़ पूर्वाग्रही एतराज़बाज़ी से कहीं गहरा है: असल में, आज इस मुल्क में इस्लामी क़ानून लागू करने में व्यावहारिक दिक़्क़तें क्या हैं, और उनकी असली नौच्यत क्या है? यह समझने के बाद ही हम जान पाएँगे कि यह काम किस राह से किया जा सकता है।

इस्लामी क़ानून लागू करना अपने आप में किसी बड़ी बौद्धिक दिक़्क़त का काम नहीं है। असली दिक़्क़त यह है कि इस काम के लिए ज़रूरी बौद्धिक, मानसिक और प्रशासनिक तैयारी अभी हमारे बीच मौजूद नहीं है; न ही हमारे पास इस ख़ास काम के लिए प्रशिक्षित और अनुशासित कार्यकर्ताओं का ऐसा जत्था है जो इसके लिए तैयार और सुसज्जित हो। इसी तैयारी और सुसज्जा की कमी के कारण, अलग-अलग लोग इसे अंजाम देने के अलग-अलग सिद्धांत पेश करते हैं, इस बात पर बहस करते हैं कि इस क़ानून के अहकाम, उसकी रूह, उसका मिज़ाज, उसका मक़सद, उसके उसूल कैसे सही समझे जाएँ, और यह हमारे ज़माने की तमाम नई परिस्थितियों पर कैसे लागू हो — और इन सवालों का कोई आख़िरी, तय, फ़ैसलाकुन जवाब नहीं है, और यही अनिश्चितता आज भी लोगों को हर तरह के दरवाज़ों से घुसने की गुंजाइश देती है।

सच यह है कि जब तक इस्लामी क़ानून लागू करने की व्यावहारिक दिक़्क़तों का समाधान नहीं होता, कोई भी चतुर बयानबाज़ी या ज़ोरदार दलील इस योजना को हक़ीक़त में कामयाब नहीं बना सकती। बल्कि, किसी व्यक्ति की सच्चाई और समझ की असली परख यह है कि वह इस बात को समझे कि समाज ने ख़ुद अपनी ज़िंदगी के तमाम पहलुओं और उनसे जुड़े हर मसले में इस योजना पर अमल करने के लिए किस हद तक कोशिश की है। इसी वजह से इस्लामी क़ानून ख़ुद पूरी ज़िंदगी के लिए बनी एक व्यापक जीवंत योजना का एक हिस्सा — एक अंश — मात्र है, और उस पूरी योजना के मिज़ाज को समझे बिना उसके किसी भी हिस्से के बारे में कोई सही राय नहीं बनाई जा सकती।

क़ानून और निज़ामे-ज़िंदगी का बाहमी ताल्लुक़

'क़ानून' शब्द से हमारा मतलब उस चीज़ से है जिसके ज़रिए हम इंसान के अमल के उस तरीक़े को बयान करते हैं जिसे अपनाया जाना चाहिए, चाहे वह व्यक्तिगत हो या सामूहिक। इस सवाल का असली जवाब इससे कहीं व्यापक इस सवाल में छिपा है कि इंसानी ज़िंदगी — व्यक्तिगत और सामूहिक — को कैसा होना चाहिए। इस व्यापक सवाल के जवाब हर दिशा से आते हैं, और इसी शीर्षक के तहत कई अलग-अलग वर्ग आते हैं। एक वर्ग हमारी अख़लाक़ी तालीम और तरबियत का है, जिसमें कुछ मूल्यों के मुताबिक़ व्यक्तियों के चरित्र को ढालने की कोशिश शामिल है। दूसरा वर्ग वह सामूहिक व्यवस्था है जो किसी समाज के अपने नज़रिए के मुताबिक़ इंसानी रिश्तों के जाल को नियंत्रित करती है। तीसरा वर्ग — आर्थिक व्यवस्था — लोगों के धन, उसके उत्पादन, वितरण और विनिमय पर उनके अधिकारों को नियंत्रित करती है। इन्हीं कई वर्गों से हमारी ज़िंदगी के अलग-अलग क्षेत्रों की शक्ल और उनके नियमन के सिद्धांत और क़ानून बनते हैं; इन्हीं बेशुमार वर्गों में से केवल कुछ को सकारात्मक, लागू करने योग्य क़ानून की शक्ल दी जाती है, जिसे लागू करने के लिए राजनीतिक सत्ता की मशीनरी की ज़रूरत होती है।

अब किसी को भी यह पूरी तरह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि कोई भी व्यक्ति किसी क़ानून को तब तक सही ढंग से नहीं समझ सकता जब तक वह अपनी जाँच को केवल उस संकीर्ण दायरे तक सीमित रखे जिसे 'क़ानून' शब्द ढकता है। बल्कि, उसे किसी समाज के जीवन-दृष्टिकोण की पूरी योजना को समझना होगा, जिसका वह क़ानून केवल एक हिस्सा है, और उस पूरी योजना के मिज़ाज को समझे बिना उसके किसी भी पहलू के बारे में कोई सही राय नहीं बनाई जा सकती।

निज़ामे-ज़िंदगी की फ़िक्री और अख़लाक़ी बुनियादें

जब हम इस व्यापक सवाल पर आते हैं कि पूरी जीवन-व्यवस्था कैसी होनी चाहिए, तो इसका असली जवाब यह है: कोई व्यक्ति या क़ौम इंसानी ज़िंदगी और ब्रह्मांड की हक़ीक़त के बारे में जो अवधारणा बनाती है, और सही-ग़लत, ठीक-नाठीक के बारे में जो नज़रिया उस रोशनी में अपनाती है — उसी अवधारणा और उसी नज़रिए से बाक़ी सब कुछ निकलता है, और इसी से हर क़ौम के विचारों की प्रकृति तय होती है। दुनिया की अलग-अलग क़ौमों ने अलग-अलग ऐसी अवधारणाएँ अपनाई हैं, और आज दुनिया के क़ानूनों और व्यवस्थाओं में जो फ़र्क़ है, वह जड़ में इन्हीं बुनियादी अवधारणाओं के फ़र्क़ का प्रतिबिंब है। इन्हीं अवधारणाओं से अलग-अलग जीवन-योजनाएँ जन्म लेती हैं, और इन्हीं अलग-अलग जीवन-योजनाओं से उनके अनुकूल अलग-अलग क़ानून-संहिताएँ पैदा होती हैं। इसलिए किसी भी जीवन-योजना से संबंधित क़ानून के बारे में कोई पक्का और अंतिम फ़ैसला उसके स्रोत और उसके अंतर्निहित नज़रिए की जाँच किए बिना नहीं किया जा सकता। इसीलिए आज मेरा विषय मुझे

पहले इस्लाम की अपनी जीवन-योजना की फ़िक्री और अख़लाक़ी बुनियादों का एक सामान्य ब्यौरा देने और उसके बाद ही उस योजना के क़ानूनी हिस्से पर विशेष चर्चा करने के लिए बाध्य करता है।

इस्लामी निज़ामे-ज़िंदगी का माख़ज़ (स्रोत)

इस्लाम जो जीवन-योजना पेश करता है, वह उसे एक ऐसे स्रोत से लेता है जिसे दुनिया की अलग-अलग भाषाओं में अलग-अलग संस्करणों और नामों से जाना जाता है — लेकिन उन सबका सार एक ही है, और वह किताब ख़ुद को 'द बुक' (वह किताब) कहती है। इतिहास में इसी एक किताब को अलग-अलग नामों से अलग-अलग क़ौमों से जोड़ा गया है जिन्होंने इसे प्राप्त किया, हालाँकि वास्तव में वे सब मूल रूप से एक ही ईश्वरीय स्रोत के अलग-अलग रूप हैं, जिन्हें उसे आगे पहुँचाने वाले अलग-अलग समुदायों ने समय के साथ बिगाड़ या बदल दिया। इसी स्रोत — इस किताब और इस रसूल — से इस्लाम अपनी पूरी जीवन-योजना प्राप्त करता है।

इस्लाम का नज़रिया-ए-ज़िंदगी

यह किताब और यह रसूल इंसानों के सामने एक बड़ी सच्चाई पेश करते हैं जिसे स्वीकार किया जाना है: कि यह पूरा ब्रह्मांड, एक व्यवस्थित राज्य की तरह एक केंद्रीय सत्ता के तहत चल रहा है, एक ही ईश्वर की संप्रभुता के अधीन, जो इस ब्रह्मांड का रचयिता है और इसका स्वामी भी है, और यह उसी के हुक्म से है कि यह धरती, जिस पर हम रहते हैं, घूमती रहती है। इस विशाल साम्राज्य ने, अपनी अनगिनत जनसंख्या में से, एक छोटा-सा हिस्सा — मानव जाति, उसके मन और शारीरिक क्षमताओं के साथ — अपनी 'जन्मजात प्रजा' (born subject) के रूप में नियुक्त किया है; तुम कभी अपने ख़ुद के रचयिता नहीं थे, न तुम अपने ख़ुद के स्वामी हो; तुम उसकी रचना हो, और वही है जिसने तुम्हें पाला है और अब भी पाल रहा है, ताकि तुम जीवित रहो और उसकी सेवा करो। इसके लिए तुम्हें अपनी तर्कशक्ति में एक निश्चित स्वयं-सत्ता का एहसास दिया गया है, लेकिन यह एक झूठा अभिमान है, क्योंकि वह सत्ता ईश्वर की अपनी विशाल, सर्वव्यापी सत्ता से तुम्हें सौंपा गया एक छोटा-सा हिस्सा भर है — तुम्हारे अपने जीवन के कामकाज के एक बड़े हिस्से और कई अन्य चीज़ों पर। इस सत्ता का इस्तेमाल ईश्वर की हर प्रजा हर जगह करती है; इसका इस्तेमाल ईश्वर के हर राज्य में होता है; और इसका इस्तेमाल हमेशा उसी ब्रह्मांड में होता है जो ईश्वर का अपना है, और इंसानी जीवन के सामंजस्य की माँगों में। पूर्ण अर्थ में स्वतंत्रता — किसी मूल, स्वयंभू, किसी भी उच्च सत्ता के प्रति अनुत्तरदायी, किसी प्रकृति के नियम से अबाधित प्राणी की स्वतंत्रता — किसी भी प्रजा को, चाहे वह कितनी भी शक्तिशाली हो, उसके अंतिम हिसाब के अंतिम क्षण तक नहीं मिल सकती। और इस समझ तक पहुँचने के बाद, इंसानों का अपने कर्म की स्वतंत्रता के अपने हिस्से में चुनाव का दायरा, और उस दायरे में अपने आचरण की व्यावहारिक दिशा चुनने की उनकी शक्ति, कोई छोटी बात नहीं है। अगर सही इस्तेमाल

किया जाए तो यह बड़ा लाभ ला सकता है; अगर ग़लत इस्तेमाल किया जाए तो यह उतना ही बड़ा नुक़सान भी कर सकता है, जो एक व्यक्ति की इच्छाशक्ति के दुरुपयोग से पूरी क़ौम की ज़िंदगी और इतिहास में गहराई तक फैल जाता है।

हक़ (अधिकार) का बुनियादी तसव्वुर

यहीं से 'हक़' (अधिकार) का सवाल पहली बार उठता है — और यहीं हमें हक़ की सबसे पहली और सबसे बुनियादी अवधारणा मिलती है: कि इस ब्रह्मांड में जो कुछ भी मौजूद है, और उसकी मेहनत के जो भी फल हैं, वे अंततः किसी और के नहीं बल्कि उसके असली स्वामी, ईश्वर के हैं, और केवल उसी के। किसी भी व्यक्ति, छोटे समूह या क़ौम को उसके किसी हिस्से पर जो भी तथाकथित स्वामित्व का अधिकार दिया जाता है, वह असल में ईश्वर द्वारा सौंपा गया अधिकार है — कभी भी स्वतंत्र रूप से, पूर्णतः अपने बल पर हासिल किया गया अधिकार नहीं। हर वह व्यक्ति जो ऐसा कोई अधिकार इस्तेमाल करता है, वह उस देश, उस दुनिया और पूरे ब्रह्मांड के असली स्वामी के सामने एक अमानतदार के रूप में उसका इस्तेमाल कर रहा है। इंसानी सत्ता के इस्तेमाल किए गए और न किए गए हिस्सों के बीच संतुलन की माँग असल में हमारी अपनी ज़िंदगी के सामंजस्य की ही माँग है: यह माँग कि इंसानी ज़िंदगी में, इस्तेमाल की गई और न की गई दोनों सत्ताएँ एक ही न्यायाधीश, एक ही शासक के हाथ में दोनों क्षेत्रों पर रहें — क्योंकि इन्हीं दो अलग, अलग-अलग स्रोतों वाली सत्ताओं के परस्पर विरोधी खिंचाव से वह भ्रष्टाचार पैदा होता है जो पहले एक व्यक्ति की बिगड़ी हुई ज़िंदगी में दिखता है, फिर फैलकर पूरी क़ौमों को घेर लेने वाला भ्रष्टाचार बन जाता है, और आख़िरकार दुनिया के इतिहास को भर देने वाले भारी भ्रष्टाचार और अव्यवस्था के रूप में सामने आता है।

"इस्लाम" और "मुस्लिम" के मआनी

'द बुक' (वह किताब) और 'रसूल' इंसानों के सामने यह सच्चाई रखते हैं, और साथ ही एक पुकार भी: जो कोई भी इस सच्चाई को बिना किसी दबाव के, ख़ुशी और स्वेच्छा से स्वीकार करता है, वह ऐसा करके इंसान जाति को वह स्वतंत्र इच्छा प्रदान करता है जिसकी उसे यह ज़रूरत है कि एक व्यक्ति अपने जीवन के इस क्षेत्र में ख़ुद अपनी सत्ता अपने असली ईश्वर को सौंपने का चुनाव करे, और इस सौंपने के ज़रिए ही, किसी दबाव के बजाय अपनी स्वतंत्र इच्छा से, ईश्वर के स्वामित्व को स्वीकार करे — यही सौंपना, यही समर्पण, 'सरेंडर' कहलाता है, और यही समर्पण 'इस्लाम' कहलाता है। और उस समर्पण का व्यवहारिक रूप में किया जाना ही एक व्यक्ति को 'मुसलमान' बनाता है, यानी वह व्यक्ति जिसने ईश्वर के स्वामित्व को पहचाना है, यह स्वीकार किया है कि उसकी

स्वतंत्र इच्छा और अपने मामलों पर उसकी सत्ता अंततः ईश्वर की है, और इस प्रकार उसने अपने ऊपर यह ज़रूरी बना लिया है कि वह अपने जीवन की व्यवस्था को ईश्वर के आदेशों के अनुरूप बनाए।

मुस्लिम समाज की हक़ीक़त

जब ऐसे लोग, सब मिलकर, इस सच्चाई को स्वीकार करते हैं और इस स्वीकृति पर अमल करते हुए एक साथ जुटते और जुड़ते हैं, तो एक 'मुस्लिम समाज' अस्तित्व में आता है — एक संगठित समाज। यह समाज एक बुनियादी बात में दुनिया के आम समाजों से अलग है: यह केवल जन्म या साझी परिस्थितियों की संयोगवश परिणति नहीं है, बल्कि इसमें प्रवेश करने वाले सदस्यों के बीच सचेत रूप से बने एक अनुबंध के माध्यम से जानबूझकर अस्तित्व में आता है। इस अनुबंध की प्रक्रिया के ज़रिए, इस संगठन के सदस्य एक सचेत, जानबूझकर किए गए कार्य में यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर उनका असली शासक है, उसका मार्गदर्शन उनका मार्गदर्शक है, उसने अपने जीवन के लिए जो क़ानून उतारा है वह उनके जीवन का संविधान है, और अब वे इसी क़ानून के तहत, इसकी प्रजा के रूप में शासित होंगे; वे यह भी वचन देते हैं कि जो कुछ उसने वर्जित घोषित किया है उसे वे वर्जित मानेंगे, और जो कुछ उसने सही और उचित घोषित किया है उसे वे स्वीकार करेंगे, और अपनी राय या निर्णय को उसके आदेश के अधीन रखेंगे, न कि इसके उलट।

यह स्पष्ट, प्रकट स्वीकृति ही वह बुनियादी सिद्धांत है जिससे एक समाज वह बनता है जिसे 'इस्लामी समाज' कहा जाता है — किताब और रसूल ने इसे जीवन के लिए एक नियामक ढाँचा दिया है, जिसे 'शरीयत' (इस्लामी क़ानून) कहा जाता है, और इसी किताब और इसी रसूल से उत्पन्न इस स्वीकृति के आधार पर ही उस समाज पर अपने जीवन के हर मामले में इस शरीयत को व्यावहारिक रूप से लागू करने की ज़िम्मेदारी बाध्यकारी बन जाती है। इससे यह समझना बिल्कुल कठिन नहीं होना चाहिए कि किसी दिए गए मामले के बारे में यह स्थापित करने के लिए कि वह शरीयत की दृष्टि में नापसंद, अरुचिकर या अस्वीकृत है, विधाता की ओर से किसी स्पष्ट कथन की कभी ज़रूरत नहीं होती — यह जानना भर कि कोई दिया गया मामला व्यवहार की किस श्रेणी में आता है, ख़ुद ही किसी भी मामूली समझ रखने वाले व्यक्ति के लिए आसानी से समझ में आ जाता है। कुछ प्रकार के अरुचिकर व्यवहार वर्जित के बहुत क़रीब होते हैं, और कुछ प्रकार के अनुमत्य केवल अवांछनीय होने के क़रीब होते हैं, और इनके बीच निकटता की डिग्रियाँ हैं। कुछ चीज़ों को सख़्ती से पूरी तरह वर्जित किया गया है, और कुछ को केवल हतोत्साहित किया गया है, और यही वह क्रम-व्यवस्था है जो शरीयत ने लोगों को संयमित करने के उद्देश्य से बनाई है, ताकि एक अच्छे समाज के अपने योग्य तत्व स्वयं अवांछनीय को रोकने में अगुआई करें।

शरीयत की हमागीरी (व्यापकता)

अच्छे और अस्वीकृत के रूप में पहचाने जाने वाले आदेश इस समाज के हर सदस्य के व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन के हर कोने तक पहुँचते हैं — किसी व्यक्ति की निजी इबादतों, व्यक्तिगत आचरण और आदतों, खाने-पीने और पहनावे, बैठने-उठने और सामाजिक शिष्टाचार, वैवाहिक जीवन, पारिवारिक जीवन, रोज़मर्रा के मामलों के संचालन, आर्थिक लेन-देन, आपसी सामाजिक संबंधों, राज्य के प्रशासन के मामलों, नागरिकता की आवश्यकताओं और अधिकारों, न्यायपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना, शांति और युद्ध में अन्य राष्ट्रों से व्यवहार के तरीक़े तक — और शायद ही ज़िंदगी की कोई ऐसी शाख़ हो जिसे इस शरीयत ने अछूता छोड़ा हो। इसे इंसानी ज़िंदगी की पूरी व्यवस्था के लिए एक क्रमबद्ध योजना का पूरा रंग-रूप तैयार करने का काम सौंपा गया है — एक ऐसी योजना जो इस विशेष सभ्यता की सीमाओं और विशेषताओं को हर सिद्धांत, तरीक़े और व्यवहार में अन्य सबसे बिल्कुल स्पष्ट रूप से अलग करती है, और जो निर्धारित सीधे और शुद्ध मार्ग पर अच्छाई और बुराई को एक-दूसरे से अलग करने का तरीक़ा दिखाती है; कि हमारे आचरण को अपनी सीमाओं के भीतर कौन-सी आज़ादी हासिल है, और किन सीमाओं के भीतर हमारे अपने आचरण की आज़ादी को अनुशासित रखना ज़रूरी है, और किस सचेत, जानबूझकर की गई अपनी स्वतंत्र इच्छा के प्रयोग से हमें इसे पूरा करना चाहिए।

निज़ामे-शरीयत का ग़ैर-विभाज्य होना

यह पूरी जीवन-योजना जो शरीयत पेश करती है, असल में एक ही एकीकृत समग्रता है, जिसमें एक ही व्यापक मिज़ाज बहता है; आप इसके उन हिस्सों को नहीं चुन सकते जो आपके अनुकूल हों और बाक़ी को छोड़ नहीं सकते, क्योंकि यह अलग-अलग, स्वतंत्र रूप से खड़े तत्वों का ढेर नहीं है। बल्कि, यह एक जीवित प्राणी की तरह है, जिसकी अपनी एक आंतरिक, जैविक एकता है, और उस प्राणी के व्यक्तिगत अंगों को पूरे से अलग स्वतंत्र अस्तित्व में सक्षम नहीं माना जा सकता, न ही ऐसी किसी सभ्यता का कोई एक तत्व अकेले, अलगाव में, बदलाव या संशोधन में सक्षम है बिना इस बात के कि उस सभ्यता की समग्र हक़ीक़त बदल जाए, और हर स्तर पर उसकी पहचान किसी और चीज़ में न ढल जाए।

इसके अलावा, जो निष्पक्ष व्यक्ति इन आदेशों, सिद्धांतों और सीमाओं के विवरण का अध्ययन करता है और एक उचित निष्कर्ष पर पहुँचता है, उसे यह पता चलेगा कि इसमें ऐसी कोई जगह नहीं जहाँ शरीयत ने बिना कारण कोई आदेश जारी किया हो, या बिना कारण कोई निषेध लगाया हो; जहाँ भी शरीयत किसी कार्यवाही को रोकती है, वह इसलिए करती है कि उस विशेष मामले में इंसान की बुद्धि और इच्छाशक्ति उस चीज़ से भटक सकती है जिसे आम तौर पर 'फ़ितना' या 'प्रलोभन' कहा जाता है। ऐसी परिस्थितियों में शरीयत एक स्पष्ट, जानबूझकर किया गया

आदेश या एक स्पष्ट, सिद्धांतबद्ध निषेध — मानो मार्गदर्शक चिह्न — रखती है ताकि लोग भटकने से बचें, ताकि यह स्पष्ट हो जाए कि सही राह किस ओर है। ये मार्गदर्शक चिह्न हमारी आगे की प्रगति को रोकने के लिए बाधाएँ नहीं हैं — बल्कि, ये हमारे मार्ग को सीधा रखने और हमारे जीवन की यात्रा को सुरक्षित रूप से उस पर मार्गदर्शन करने, उसे दोनों ओर भटकने से बचाने के लिए हैं।

ये स्वतंत्र क़ानून इस योजना का सबसे प्रामाणिक हिस्सा हैं — एक ऐसी योजना जिसके बारे में आज तक दुनिया के आलोचकों ने बिना कोई गहरा, सावधान अध्ययन किए केवल ऊपरी एतराज़ उठाए हैं; और केवल जब आज के एतराज़ करने वाले वास्तव में इसके सिद्धांतों की गहन खोज और अध्ययन एक सच्ची जिज्ञासा की भावना से करेंगे, तभी वे यह समझ पाएँगे कि तलाक़ और विरासत के क़ानून, मिसाल के तौर पर, रोज़मर्रा की ज़िंदगी की व्यावहारिक ज़रूरतों को कैसे दर्शाते हैं।

शरीयत का क़ानूनी हिस्सा

इस चर्चा में यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि क़ानून का वह हिस्सा जिसे आधुनिक शब्दावली में हम 'शरीयत' कहते हैं, वह पूरी ज़िंदगी के लिए एक संपूर्ण और व्यापक योजना का केवल एक हिस्सा — एक अंश — है; हर एक हिस्सा, चाहे वह लागू किया गया हो या नहीं या उसे क़ानूनी बल दिया गया हो या नहीं, ऐसी चीज़ नहीं है जिसे अलगाव में समझा जा सके। क्या इस्लामी क़ानून का यह विशेष हिस्सा कहीं भी वास्तव में लागू किया गया है या नहीं, यह ऐसा मामला है जिसे केवल इतिहास के सावधान संदर्भ से ही ठीक से तय किया जा सकता है, और केवल इस तरह पहुँचा गया ऐसा निर्णय ही — कि इस्लाम की असली मंशा और उसकी संपूर्ण जीवन-योजना कब वास्तव में उसकी अपनी मूल भावना के अनुरूप व्यावहारिक रूप दी गई — हमें इस मामले की सच्चाई बता सकता है। जहाँ तक इस्लामी क़ानून के सामूहिक प्रवर्तन का सवाल है, यह केवल राज्य की राजनीतिक सत्ता के माध्यम से ही उचित रूप से किया जा सकता है, क्योंकि राज्य की राजनीतिक सत्ता ही प्रवर्तन और प्रशासन के मामलों में शरीयत के मिज़ाज को उचित रूप से प्रतिबिंबित कर सकती है। इसीलिए हम यहाँ केवल शरीयत के इसी विशेष हिस्से को, जिसे राज्य की राजनीतिक सत्ता के माध्यम से लागू किया जाना है, 'इस्लाम का क़ानून' कहते हैं — यानी इसका वह हिस्सा जिसे लागू होने के लिए एक राजनीतिक सत्ता के माध्यम की ज़रूरत होती है, और जिसे अपने ही सिद्धांतों और मिज़ाज के अनुरूप लाया जाना चाहिए।

इस्लामी क़ानून के अहम शोबे (महत्वपूर्ण शाखाएँ)

इस राजनीतिक सत्ता के गठन के लिए, सबसे पहली ज़रूरत एक संवैधानिक क़ानून की है, और शरीयत ने इस विषय पर वे सभी बुनियादी सिद्धांत तय कर दिए हैं जिनकी ज़रूरत है। राज्य का बुनियादी दर्शन क्या है? राज्य किस उद्देश्य के लिए अस्तित्व में आता है? उसके नागरिक कौन हैं, और उनके अधिकार और कर्तव्य क्या हैं? एक व्यक्ति नागरिक के रूप में किस आधार पर कौन-से अधिकार प्राप्त करता है, और क्या उन अधिकारों को छीना जा सकता है, और किस आधार पर? एक इस्लामी राज्य अपने भीतर रहने वाले ग़ैर-मुस्लिम नागरिकों (ज़िम्मियों) को कौन-से अधिकार और कर्तव्य देता है?

राज्य का क़ानून और उसकी सत्ताओं की शक्तियाँ शरीयत से ली गई हैं; सरकार किसी दिए गए प्रशासनिक ढाँचे को आकार देने में कितनी सत्ता का इस्तेमाल करती है, और किन सिद्धांतों से वह ऐसा करेगी; कौन किसके प्रति जवाबदेह होगा; क़ानून बनाने की शक्ति किसके पास होगी, और किन सीमाओं के भीतर; न्यायपालिका के अधिकार और कर्तव्य क्या हैं, और किस हद तक? संवैधानिक क़ानून इन सभी बुनियादी सवालों के मूल जवाब देता है। फिर, ताकि ये सिद्धांत बदलती परिस्थितियों के अनुरूप लागू और अधिक विस्तृत रूप ले सकें, संवैधानिक क़ानून ने उनके आगे के विस्तृत निर्धारण को हर युग में समय की माँगों के प्रकाश में नए सिरे से तय किए जाने के लिए छोड़ दिया है — संवैधानिक क़ानून स्वयं, हालाँकि, इनके अपने कोई विस्तृत नियम नहीं देता; न ही इन मामलों के लिए हमेशा के लिए, हर युग के लिए बिना बदलाव के वैध कोई एक निश्चित रूप निर्धारित किया गया है; न ही संवैधानिक क़ानून राज्य को अपनी मर्ज़ी से, बिना किसी ढाँचे के, विस्तृत नियम बनाने की पूरी, अप्रतिबंधित स्वतंत्रता देता है — बल्कि, यह देता है कि राज्य शरीयत द्वारा स्वयं सिद्धांतों के रूप में निर्धारित सीमाओं और सीमाओं के भीतर अपने विस्तृत नियम बनाने के लिए स्वतंत्र है।

इसके अलावा, शरीयत ने क़ानून के शेष मामलों को दो व्यापक श्रेणियों में विभाजित किया है: जिसे 'सार्वजनिक क़ानून' (पब्लिक लॉ) कहा जाता है और जिसे 'निजी क़ानून' (प्राइवेट लॉ) कहा जाता है, और इन्हीं दो शीर्षकों के तहत मानवीय मामलों और न्याय की स्थापना से संबंधित सभी विभिन्न अध्याय आते हैं। इन दो शीर्षकों के भीतर शरीयत ने कहीं अत्यंत विस्तृत नियम और सिद्धांत दिए हैं, जबकि कहीं उसने केवल व्यापक मार्गदर्शक सिद्धांत प्रदान किए हैं, यह किसी भी युग और किसी भी समाज पर छोड़ते हुए जो किसी दी गई परिस्थिति का सामना करता है कि वह सामान्य सिद्धांत को उस विशेष समय और स्थान के लिए सबसे उपयुक्त तरीक़े से, न्याय की माँगों के अनुरूप लागू करे।

हम यह भी कह सकते हैं कि जहाँ भी किसी मामले को पूरा करने की शरीयत की अपनी स्पष्ट क़ानूनी माँग मौजूद नहीं थी, उसने उस मामले के नियमन को पूरी तरह से किसी भी विशेष देश के अपने समाज को उपयुक्त लगने

वाले नियमों से भरने के लिए छोड़ दिया — बशर्ते वे नियम हमेशा इस्लाम की शिक्षाओं और सिद्धांतों के समग्र निकाय के अनुरूप रखे जाएँ।

इस शीर्षक के तहत विवाह और तलाक़, क्रय-विक्रय, पट्टा (लीज़), संरक्षकता, गवाही, स्वीकृति, और अन्य ऐसे शीर्षक आते हैं; और अगर इन किताबों की सामग्री को उर्दू में स्थानांतरित किया जाए, तो यह अपने आप में एक हासिल की जाने योग्य उपलब्धि होगी। ऐसा करना काफ़ी, श्रमसाध्य प्रयास की माँग करता है, लेकिन फिर भी यह ज़रूरी है, ताकि इस क्षेत्र के लिए सबसे उपयुक्त विद्वान इस काम को हाथ में लेकर पूरा करें।

इस्लामी क़ानून का इस्तिक़लाल (स्थिरता) और उसकी तरक़्क़ी-पज़ीरी (प्रगतिशीलता)

इस संक्षिप्त चर्चा को समाप्त करते हुए, यह स्पष्ट किया जाना चाहिए कि इंसानी विचार आज तक पूरी तरह यह तय नहीं कर पाया है कि क़ानून की कितनी शाख़ें हैं, और न ही किसी एक शाख़ ने, किसी एक रूप या आकार में, कभी मानवता के मामलों का उस तरह मार्गदर्शन करने में सफलता पाई है जिस तरह हमारी अपनी शरीयत उसका मार्गदर्शन करने में सक्षम रही है। अगर हम मामलों की अधिक सावधानी से जाँच करें और इसकी निष्पक्ष और विस्तृत समीक्षा करें, तो हम देखेंगे कि इस्लामी क़ानून में एक हिस्सा बिल्कुल तय और अपरिवर्तनीय है, और एक हिस्सा ऐसा भी है जो हर युग और हर बदलती परिस्थिति की बढ़ती ज़रूरतों के साथ क़दम मिलाने के लिए, जिस भी तरीक़े से वह उद्देश्य सबसे अच्छी तरह पूरा हो, विकास और वृद्धि करने में सक्षम है।

हमारे इस क़ानून के अनिवार्य रूप से चार घटक तत्व हैं:

(1) क़ुरआन में स्थापित निश्चित और स्पष्ट आदेश, या प्रामाणिक हदीस के ज़रिए स्थापित आदेश — जैसे सूद, ब्याज और चोरी की मनाही, विरासत में उत्तराधिकारी के निश्चित हिस्से का निर्धारण, और इसी तरह की अन्य बातें।

(2) क़ुरआन और प्रामाणिक हदीस में स्थापित नियमों के पीछे के सिद्धांत — उदाहरण के लिए, यह नियम कि किसी भी प्रकार की संपत्ति या लेन-देन जिसमें दोनों पक्षों की आपसी सहमति के बिना अनुचित, शोषक लाभ-हस्तांतरण शामिल हो, अमान्य है।

(3) कोई भी अनुमान, समानता (क़ियास), स्वतंत्र क़ानूनी विवेचन (इज्तिहाद), या न्यायिक वरीयता (इस्तिहसान), जिस पर समुदाय की सहमति (इज्मा) — चाहे वह विद्वानों के सामान्य निकाय की हो या उनमें से बहुसंख्यक की, स्वीकृत निर्णय के रूप में — उस देश के मुसलमानों के बीच आम तौर पर स्वीकार हो गई हो।

(4) ऐसी किसी सहमति का कोई भी अनुप्रयोग, जहाँ उस देश के योग्य अधिकारियों द्वारा किसी दिए गए मामले को सुलझाते हुए सहमति-आधारित या बहुसंख्यक निर्णय लिया गया हो।

मेरा प्रस्ताव यह है कि इनमें से पहली दो श्रेणियों — निश्चित आदेशों — को विशेषज्ञ विद्वानों की एक संस्था द्वारा एकत्र किया जाए और एक ही 'संहिता ऑफ़ रूलिंग्स' (निर्णयों की संहिता) में व्यवस्थित किया जाए। फिर, जो भी नए सहमति-आधारित या बहुसंख्यक निर्णय अस्तित्व में आएँ, उन्हें ज़रूरत के अनुसार, संशोधन के रूप में हमारी इस पुस्तक में जोड़ा जाए। अगर इस तरह की संहिता में पहली दो श्रेणियों के निर्णय इसकी वास्तविक, अपरिवर्तनीय बुनियाद बनें, तो बाक़ी फ़िक़्ह की किताबें इस संहिता के संबंध में इसकी प्रामाणिक टीका (कमेंट्री) के रूप में काम कर सकती हैं। इससे अदालतों के लिए इस्लामी क़ानून की व्याख्या और समीक्षा करना भी बहुत आसान हो जाएगा, और इस क़ानून की शिक्षा देना भी आसान हो जाएगा।

एतराज़ात और जवाबात (आपत्तियाँ और उत्तर)

अब मैं संक्षेप में उन कई एतराज़ों को संबोधित करूँगा जो पाकिस्तान द्वारा विचार किए जा रहे इस्लामी क़ानून की चर्चाओं में आम तौर पर उठाए जाते हैं। ये एतराज़ ज़्यादातर बिल्कुल अनुचित हैं। ये कुछ हद तक इसलिए उठते हैं क्योंकि जिस भाषा में इन्हें प्रस्तुत किया जाता है वह मामलों को स्पष्ट करने के बजाय अनावश्यक शाब्दिक जटिलता के ज़रिए धुंधला कर देती है; फिर भी, मैं हर एतराज़ के सार को एक-एक करके संबोधित करूँगा।

तहमत-ए-बोसीदगी (पुरानेपन का इल्ज़ाम)

पहला एतराज़ यह है कि यह क़ानून, सदियों पुराना होने के कारण, आधुनिक युग और आधुनिक राज्य की ज़रूरतों को पूरी तरह पूरा नहीं कर सकता।

इस एतराज़ को उठाने वाले लोग मुझे लगता है एक ग़लत धारणा रखते हैं: यानी, इस्लामी क़ानून की बुनियादी उत्पत्ति और उसकी सबसे पहली रचना व संहिताकरण से वे पूरी तरह अपरिचित हैं — उन्हें इन बातों का बिल्कुल पता नहीं। सच तो यह है कि उन्होंने यह टिप्पणी करने से पहले शायद यह कभी सोचा ही नहीं कि इस क़ानून की बुनियादी नैतिक बुनियादें और सिद्धांत तेरह सदी पहले रखे गए थे, और इसके बाद ही इस क़ानून को समुदाय के अपने विचारशील कर्तव्य के रूप में क्रमशः विकसित किया गया। और ठीक इसी आधार पर उन्होंने यह धारणा बना ली है कि अगर कोई नया राज्य, अभी, इस क़ानून को अपना ले, तो इसी क़ौम की भविष्य की व्यापक ज़रूरतें शायद इससे पूरी तरह पूरी न हो सकें। अन्यथा भी उचित रूप से जानकार लोग यह ज़रूरी नहीं जानते कि तेरह सदी पहले रखे गए बुनियादी आदेश और सिद्धांत बीती सदियों में और आज तक कैसे व्याख्या, समानता, स्वतंत्र

क़ानूनी विवेचन और जायज़ विवेक के दायरे में आने वाले मामलों पर न्यायिक वरीयता के ज़रिए रोज़मर्रा की ज़िंदगी की उभरती ज़रूरतों को पूरा करते रहे हैं।

यही तंत्र — यह क़ानून की व्याख्या, समानता और स्वतंत्र क़ानूनी विवेचन के ज़रिए विकास की क्षमता, जो देशों और लगातार दौरों में न्यायविदों को उपलब्ध विवेक के भीतर है — इसी ने लगभग तेरह सदियों में एक समृद्ध और व्यापक न्यायशास्त्रीय विरासत को इकट्ठा होने दिया है, जो अत्यंत विस्तृत और गहरी है, ख़ुलफ़ा-ए-राशिदीन के दौर से लेकर अबू यूसुफ़ के युग तक पहुँचती है, और यही न्यायशास्त्र की परंपरा है जिसने इस्लामी क़ानून को हर युग में, आज तक, विकसित होते रहने में सक्षम बनाया है। आज एक बार फिर, ठीक इसी तरह, चाहे भविष्य के किसी भी युग में कोई भी माँग उठे, वही व्याख्या, समानता, स्वतंत्र विवेचन और न्यायिक वरीयता का तंत्र उस युग की अपनी ज़रूरतों के मुताबिक़ नए सिरे से लागू किया जाने के लिए उपलब्ध है।

असल में बारह सदियों में कभी ऐसा नहीं हुआ कि किसी युग या देश ने इस इस्लामी क़ानून को अपनी ज़रूरी माँगों की राह में रुकावट पाया हो।

यह इतिहास का एक तथ्य है कि इस्लाम के पहले तेरह सदियों में मुसलमानों ने एक के बाद एक सरकारें स्थापित कीं, सभी इस्लामी क़ानून की इसी सुसंगत व्यवस्था को कमोबेश लागू करते हुए, हर युग की अपनी विशेष ज़रूरतों को पूरा करने के लिए ज़रूरत के मुताबिक़ उसे क्रमशः विस्तारित और विकसित करते हुए।

उन्नीसवीं ईस्वी सदी, हालाँकि, एक ऐसी कड़ी रही है जिसने इस क्रम को तोड़ दिया: उस सदी के पतन की शुरुआत से लेकर बीसवीं सदी की शुरुआत तक, अधिकांश मुस्लिम देशों में इस्लामी क़ानून को, कुल मिलाकर, व्यावहारिक रूप से लागू करना बंद कर दिया गया — और आज स्थिति, पहले से कहीं अधिक, ऐसी लगती है जिसमें बहुत से लोग मानते हैं कि यह पुराना, इतने लंबे समय से उपेक्षित भंडार अब पुराना पड़ गया है। यह माना जाता है कि इसे हमारे मौजूदा युग की राजनीतिक और प्रशासनिक हक़ीक़त में उठने वाले मामलों पर लागू करने के लिए पहले की सदियों के न्यायशास्त्रीय विद्वत्ता की तुलना में कहीं ज़्यादा मेहनत और प्रयास की ज़रूरत होगी, जो अपेक्षाकृत आसानी से मामलों को विकसित कर सकती थी, ठीक इसलिए कि उनके सामने इस्लामी क़ानून का जीवंत, चालू व्यवहार उनके कार्यशील मार्गदर्शक के रूप में मौजूद था। अब उन्हें ऐसे लोगों की ज़रूरत है, जो इस्लामी क़ानून के सच्चे विद्वत्ता वाले लोगों में से आएँ, जो इसे सदियों की परंपरा के ज़रिए वापस खोज सकें और यह पहचान सकें कि इस्लामी क़ानून हर पिछले युग में कैसे विकसित हुआ और लागू हुआ, और जो फिर इसे उसी तरह वर्तमान युग की ज़रूरतों पर भी लागू करने की स्थिति में हों, बिल्कुल वैसे ही जैसे यह अतीत के कई युगों में इतने व्यापक और

संपूर्ण रूप से लागू और विकसित किया गया था जिनका इतिहास और रिकॉर्ड हम आज भी देख सकते हैं — और इस बात पर कोई उचित संदेह की कोई बुनियाद नहीं है कि यह आज भी संभव बना रहे।

इल्ज़ाम-ए-वहशत (बर्बरता का इल्ज़ाम)

दूसरा एतराज़, जो अक्सर बड़ी सभाओं के सामने अत्यंत भावुक और उत्तेजक भाषा में उठाया जाता है, यह इल्ज़ाम है कि इस्लामी क़ानून में सदियों पुरानी अंधेरी, आदिम कल्पनाओं की बहुत-सी बातें शामिल हैं, जिन्हें इस युग का कोई सभ्य या नैतिक रूप से विकसित समाज सहन करने योग्य नहीं मानेगा — जैसे, चोरी के लिए हाथ काटना, या कुछ अपराधों के लिए संगसार करना।

इस एतराज़ को उठाने वाले ऐसे बोलते हैं जैसे मानवीय सभ्यता की अवधारणा अभी इसी युग में गढ़ी गई हो, जैसे पहले किसी पुरानी, प्राचीन सभ्यता की कोई मिसाल आज की तथाकथित सभ्य क़ौमों द्वारा हासिल किसी भी उपलब्धि से तुलनीय न रही हो, और जैसे इस तरह की सज़ाएँ किसी भी दौर में किसी क़ौम के अपने विचारशील नैतिक मापदंडों के परिणाम के रूप में कभी न उठी हों, बल्कि केवल किसी आदमी के क्रूर, बर्बर आवेग का विस्फोट रही हों। ऐसा सोचने वाला व्यक्ति स्पष्ट रूप से यह सोचने की तकलीफ़ कभी नहीं उठाता कि आज की सभ्य क़ौमों की आपराधिक न्याय व्यवस्थाओं ने वास्तव में इसके बदले क्या अपनाना चुना है, न ही यह पूछता है कि क्या उन विकल्पों का निवारक प्रभाव वास्तव में उस सज़ा से कम बर्बर है जो सीधे मौत में समाप्त होती है। यह भी सोचें कि बलात्कार का अपराध सबसे ज़्यादा किस माहौल और वातावरण में होता है, नैतिक भ्रष्टाचार के बीज किस जलवायु में सबसे आसानी से फलते-फूलते हैं — क्या यह एक ऐसे समाज में है जो उघड़े, उत्तेजक कपड़ों और सार्वजनिक स्थानों में स्वतंत्र मेल-जोल की इजाज़त देता है, जो हर शहर और क़स्बे में अश्लील तस्वीरों से भरे बिलबोर्डों और होर्डिंगों से भरा हो, अक्सर शर्मनाक ढंग से बेशर्म तरीक़ों से, और जहाँ अश्लील गीतों वाली विवादास्पद फ़िल्में दिखाई जाती हैं; और जहाँ शुद्धता और शालीनता की हर बाधा से मुक्त प्रेम कहानियाँ हर संभव रूप में, रेडियो सहित, हर जगह दिखाई जाती हैं, और अवैध यौन संबंधों वाले उपन्यासों से भरे पुस्तकालयों में खुलेआम प्रसारित होती हैं? ऐसी परिस्थितियों और ऐसे माहौल में, क्या व्यभिचार और छेड़छाड़ के अपराधों को इन सज़ाओं से कम कठोर सज़ा देना ज़्यादा उचित है, या सबसे कठोर उपयुक्त सज़ा देना, यह देखते हुए कि यही अपराध ऐसे समाज में कुछ हद तक लोगों के अपने नैतिक मापदंडों से जुड़ गए हैं? ये सज़ाएँ निश्चित रूप से सबसे कठोर प्रकार की निवारक हैं — लेकिन आधुनिक सभ्य क़ौमों ने कभी सच में यह नहीं पूछा है कि क्या ऐसे निवारक आज के नैतिक भ्रष्टाचार के लिए उपयुक्त हैं। उन्होंने कभी सच में यह नहीं पूछा है कि क्या ये निवारक, और उन्हें

जन्म देने वाले अंतर्निहित नैतिक मापदंड, आज लागू किए जा रहे कहीं अधिक हल्के निवारकों की तुलना में वास्तव में हो रहे अपराधों के लिए ज़्यादा उपयुक्त हैं।

ये सज़ाएँ वास्तव में कठोर हैं, लेकिन इनका मक़सद एक निवारक होना है, जो नैतिक और सामाजिक व्यवस्था दोनों की सेवा करे। उदाहरण के लिए, इनमें से कुछ सज़ाएँ राजनीतिक सत्ता के अपने आर्थिक फ़ायदे के दुरुपयोग के ख़िलाफ़ एक निवारक के रूप में काम करने के लिए हैं, जिनके तहत वह उन लोगों के हितों के ख़िलाफ़ जाकर काम करती है जिन पर वह शासन करती है — यह उन्हें अत्याचार के कृत्यों से बचाने के लिए बनाई गई है, भले ही अपराधी स्वयं कोई ऐसा व्यक्ति हो जो अपनी अंतरात्मा के भीतर काम कर रहा हो, और भले ही इन सज़ाओं को न्यायपूर्ण और निष्पक्ष तरीक़े से लागू करने का बोझ उठाने वाले लोग इसे लागू करने के ज़िम्मेदार हों। और क्या वाक़ई कोई उचित, समझदार क़ानूनी विशेषज्ञ यह मान सकता है कि ऐसे निवारक न्याय बनाए रखने के काम में कोई उद्देश्य पूरा नहीं करते? क्या दुनिया की हर क़ानूनी व्यवस्था में हर क़ानून को अंततः ठीक इसी प्रकार के निवारक की बुनियाद की ज़रूरत नहीं होती — कि जो कोई भी देश के क़ानून का उल्लंघन करेगा उसे उस विशेष अपराध को रोकने के लिए पर्याप्त सज़ा का सामना करना पड़ेगा? आज इस देश में जो परिस्थितियाँ प्रचलित हैं, उनके तहत जिस भी पक्ष का असली, अंतर्निहित हित पूरा होता हो, वह पक्ष तदनुसार कुछ निवारकों को किसी दिए गए मामले के लिए वास्तव में और उचित रूप से उपयुक्त निवारक की तुलना में स्वीकार करना अधिक या कम सहज पाएगा।

फ़िक़्ही इख़्तिलाफ़ात का बहाना (फ़िक़्ह के मतभेदों का बहाना)

तीसरा आम एतराज़ यह है कि इस्लाम, समय के साथ, कई फ़िर्क़ों और न्यायशास्त्रीय स्कूलों में बँट गया है, और अगर अब इस्लामी क़ानून लागू किया जाना है, तो जिस भी फ़िर्क़े के निर्णय हावी हों वे उस विशेष फ़िर्क़े के अपने न्यायशास्त्रीय स्कूल से मेल खाएँगे, न कि वास्तव में और सार्वभौमिक रूप से इस्लामी होंगे।

यह एक ऐसा एतराज़ है जिसने, किसी भी अन्य से अधिक, इस्लामी क़ानून के विरोधियों को बड़ी उम्मीद दी है कि वे इसे मुसलमानों के बीच ही इस बारे में संदेह और भ्रम फैलाने के बहाने इस्तेमाल कर सकें कि इस्लामी क़ानून को कैसे समझा जाना चाहिए, ताकि मुसलमान स्वयं इसके किसी स्पष्ट, सहमत जवाब पर कभी न पहुँच सकें। हालाँकि, यह कहा जाना चाहिए कि सच में यहाँ कोई वास्तविक जटिलता नहीं है, और यह पिछले बारह सदियों में कभी भी किसी को भी, कहीं भी, इस्लामी क़ानून को लागू करने और उस पर अमल करने से रोकने वाली रुकावट नहीं रही।

सबसे पहले, यह ध्यान में रखना चाहिए कि इस्लामी क़ानून के निश्चित, स्पष्ट आदेश और उसके बुनियादी सिद्धांत और सीमाएँ, जो ईश्वर और उसके रसूल ने रखी हैं, हर न्यायशास्त्रीय स्कूल के सभी मुसलमानों में, बिना किसी अपवाद के, बिल्कुल शुरू से लेकर आज तक साझा हैं। इन पर कभी एक भी मतभेद नहीं रहा, न अब है और न पहले था। यह केवल कुछ नियमों की विभिन्न व्याख्याएँ, और समानता व स्वतंत्र क़ानूनी विवेचन के ज़रिए पहुँचे विभिन्न अनुप्रयोग हैं जो न्यायशास्त्रीय स्कूलों के बीच मतभेदों को जन्म देते हैं, और ये जायज़ विवेक के दायरे में, और व्याख्या व क़ानूनी अनुप्रयोग की सीमाओं के भीतर आते हैं।

इसके अलावा, जो वास्तविक मतभेद मौजूद हैं वे असल में इस प्रकार के हैं: कि किसी भी युग के किसी भी विद्वान द्वारा दिया गया कोई भी निर्णय, या किसी न्यायविद द्वारा दी गई कोई भी व्याख्या, या अपने स्वतंत्र क़ानूनी विवेचन का अभ्यास करने वाले किसी व्यक्तिगत न्यायविद द्वारा दी गई कोई क़ानूनी राय या न्यायिक वरीयता का प्रयोग, कभी भी इस तरह नहीं माना गया कि उसने अपने ही अधिकार से एक बिल्कुल नया क़ानून बना दिया हो — बल्कि, वह निर्णय, अपने आप में, हमेशा केवल एक विद्वत्तापूर्ण राय ही माना गया। कोई क़ानून वास्तव में क़ानून तभी बनता है जब उसके बारे में एक सामान्य, या कम से कम एक व्यापक बहुसंख्यक, सहमति (या इज्मा) उत्पन्न हो जाए, जिसे सामान्य लोगों का समूह स्वीकार करे और जो फिर आगे चलने वाला व्यावहारिक, कार्यशील नियम बन जाए। यही सटीक कारण है कि हमारे अपने न्यायविद अपनी किताबों में, किसी विशेष मामले को समझाते समय, आम तौर पर यह दर्ज करते हैं कि यह इज्मा (सहमति), या बहुसंख्यक विद्वत्तापूर्ण सहमति, या व्यापक रूप से स्वीकृत, सहमत क़ानूनी राय (फ़तवा) पर टिका है — इससे उनका मतलब यह होता है कि लिया गया रुख़ महज़ एक व्यक्तिगत, अलग-थलग राय या केवल एक व्यक्तिगत क़ानूनी विवेचन का अभ्यास नहीं है, बल्कि, इसके बजाय, यह ऐसा मामला है जिस पर सहमति वास्तव में पहुँची गई है, चाहे वह सर्वसम्मत हो या स्पष्ट बहुसंख्यक द्वारा, और यह सहमति, प्रभावी रूप से, तय क़ानून के रूप में बाध्यकारी बन गई है।

यह सहमति और यह बहुसंख्यक सहमति स्वयं भी दो प्रकार की हो सकती है। एक प्रकार वह है जहाँ सहमति, अनिवार्य रूप से, शुरू से ही, विश्वासियों के पूरे समुदाय में — या, विश्वव्यापी संदर्भ में, जब से इस्लामी दुनिया के अधिकांश हिस्से ने इसे स्वीकार किया — मौजूद रही है। दूसरा प्रकार वह है जहाँ ऐसी सहमति, या किसी देश की मुसलमान आबादी की बहुसंख्यक सहमति, बाद के किसी बिंदु पर, किसी दिए गए स्थान और समय पर, अस्तित्व में आती है — और उस बहुसंख्यक द्वारा उसकी स्वीकृति को फिर बस उसी बहुसंख्यक द्वारा स्वीकार किया गया मान लिया जाता है।

अब असली सवाल यह है: बहुसंख्यक से असहमत अल्पसंख्यक से किस स्थिति की अपेक्षा की जाएगी? इसका जवाब यह है कि हमारा न्यायशास्त्र ऐसे किसी छोटे असहमत अल्पसंख्यक को अपने ही व्यक्तिगत मामलों में अपने स्कूल के नियमों का पालन जारी रखने और इस अधिकार की माँग करने की अनुमति देता है — लेकिन फिर भी, जो कुछ भी देश का क़ानून बनता है, वही व्यापक रूप से लागू होगा, और व्यवहार में हावी रहेगा। किसी विशेष न्यायशास्त्रीय स्कूल का एक समर्पित अनुयायी भी, जो अपनी राय पूरे व्यक्तिगत विश्वास के साथ रखता हो, मुस्लिम इतिहास में कभी यह कहने को तैयार नहीं हुआ कि इस्लामी क़ानून को सिर्फ़ इसलिए लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि आज मुसलमान हर क़ानूनी मामले में एकमत नहीं हैं। इसलिए यह कहना एक बेतुकी, अनुचित बात होगी कि क्योंकि मुसलमान इस्लामी क़ानून के कुछ मुद्दों पर मतभेद रखते हैं, इसलिए यह इस्लाम के भीतर क़ानूनी व्याख्या के मतभेदों पर एक या दूसरे स्कूल का पालन करने वाले किसी भी और सभी मुसलमानों पर 'कुफ़्र' का इल्ज़ाम लगाने के लिए पर्याप्त कारण है — यह पूरी तरह निराधार दावा होगा, चाहे कितने भी अल्पसंख्यक विचार रखने वाले व्यक्ति इसे घोषित करने को तैयार हों, चाहे कोई व्यक्ति या मुसलमानों का कोई समूह अपने साथी मुसलमानों को समुदाय से बाहर घोषित करने की ओर कितना भी झुका हुआ क्यों न हो।

ग़ैर-मुस्लिम अक़ल्लियतों (अल्पसंख्यकों) का मसला

आख़िरी आम एतराज़ यह है: यह देश केवल मुसलमानों का नहीं है; यहाँ ग़ैर-मुस्लिम अल्पसंख्यक भी बसे हैं, और वे यह कैसे मान लेंगे कि उन पर मुसलमानों का धार्मिक क़ानून थोपा जाए?

यह एतराज़ उठाने वाले लोगों ने वास्तव में इस सवाल को केवल ऊपरी तौर पर देखा है, इसे पूरी तरह और पूर्णतः इसके स्वाभाविक निष्कर्ष तक नहीं पहुँचाया — यही ठीक वह वजह है कि जब इसके विभिन्न धागे ठीक से सुलझाए जाते हैं, तो उनकी सारी उलझन ख़ुद ही सुलझ जाती है।

स्पष्ट तथ्य यह है: इक्कहाँ चर्चित क़ानून किसी शुद्ध प्रादेशिक संहिता के अर्थ में राज्य का क़ानून नहीं है; यह, बल्कि, एक निजी क़ानून है — जो, हर व्यक्ति के सख़्ती से निजी मामलों में, उस विशेष धर्म से संबंधित हर समूह को अपने ही धर्म के अनुकूल अपने निजी क़ानून द्वारा शासित होने की माँग करता है, न कि किसी अन्य एक निश्चित नियम द्वारा जो अलग-अलग विश्वासों के लोगों की आबादी वाले किसी राज्य में सभी समूहों पर एक समान रूप से लागू किया जाए। यह सिद्धांत इस्लाम ने किसी भी आधुनिक राज्य के अस्तित्व में आने से बहुत पहले क़ानून प्रशासित करने वालों पर एक ज़िम्मेदारी के रूप में रखा, और वास्तव में इस्लाम ने ही सबसे पहले राज्य के क़ानून और निजी क़ानून के इसी फ़र्क़ की तालीम दी, और यही सिद्धांत सिखाया: कि किसी भी दिए गए राज्य की आबादी में अलग-अलग विश्वासों के लोगों के निजी मामले हर एक के लिए उपयुक्त निजी क़ानून के अनुसार

शासित होने चाहिए। इसलिए किसी भी ग़ैर-मुस्लिम अल्पसंख्यक को इस बारे में कोई फ़िक्र करने की ज़रूरत नहीं: हम यह नहीं चाहते कि हमारे किसी पुराने धार्मिक क़ानून को उनकी बताई इच्छा के ख़िलाफ़, बल-प्रयोग से, इसी सिद्धांत के उल्लंघन में उन पर थोपा जाए जिसे इस्लाम ने रखा है — एक ऐसा मामला जिस पर इस्लाम ने पूरी तरह स्पष्ट, साफ़ आदेश दिए हैं।

तो अब असली सवाल केवल यही रह जाता है: क्या इस देश का क़ानून उसका अपना क़ानून होगा?

निष्पक्षता से कहें तो, न्याय की माँग इस सवाल का जो एकमात्र ईमानदार जवाब दे सकती है वह यह है: यह केवल देश का क़ानून हो सकता है, और यह वही होना चाहिए जिसे बहुसंख्यक सच्चे दिल से मानती हो — एक ऐसा बहुसंख्यक जो इस मामले में सबसे मज़बूत विश्वास रखता हो, जिसे इसकी माँग करने का एक निश्चित हक़ हो। लेकिन उतना ही, क्या यह अल्पसंख्यक भी इसे स्वीकार करता है, या नहीं, यह इस देश के लोगों के बहुसंख्यक के विवेक और निर्णय के भीतर है कि वे किस तरह आगे बढ़ना चाहते हैं।

क़ानून के निजी हिस्सों के संबंध में, हमारी यह इच्छा नहीं है कि हम अपना निजी-हैसियत का क़ानून उनके निजी मामलों पर थोपें। लेकिन अब जब हमारे पास ऐसा करने की सत्ता है, अपनी ही मेहनत से, भारी क़ीमत पर यह भूमि अर्जित की है, हम स्वयं को अपने समुदाय की भलाई के लिए यह बाध्य महसूस करते हैं कि हम अपना क़ानून यहाँ देश के अपने क़ानून के रूप में स्थापित करें। लेकिन जब बात हमारी सत्ता के प्रयोग की आती है, अगर हम सच्चे दिल से, पूरी समझ के साथ, इस देश के क़ानून को इस्लामी क़ानून बनाने का इरादा रखते हैं, तो क्या कोई ठोस, ठोस बुनियाद हो सकती है कि हम, किसी अपने न होने वाले अल्पसंख्यक की प्रतिक्रिया के प्रति ग़लत आदर के कारण, उन्हें नाराज़ करने के डर से, ऐसा न करें, जबकि हम यह सच्चा, दृढ़ विश्वास रखते हैं कि हमारा अपना धर्म हमसे इसकी माँग करता है? क्या वास्तविक, व्यावहारिक दुनिया में किसी भी अल्पसंख्यक को वास्तव में बहुसंख्यक के अपने अधिकारों के प्रयोग पर वीटो का अधिकार दिया जाना चाहिए, केवल इस बहाने पर कि बहुसंख्यक का अपने वास्तव में मौजूद अधिकार का प्रयोग उस अल्पसंख्यक को रास नहीं आता? क्या धरती पर सत्ता रखने वाला कोई भी राष्ट्र है जो अपने भीतर बसे किसी धार्मिक अल्पसंख्यक को नाराज़ न करने के लिए, महज़ इसी वजह से, अपने सही मानने वाले क़ानून को लागू करने का अपना अधिकार छोड़ देता हो? और अगर नहीं है, तो यह एक मुस्लिम-बहुल देश ही क्यों इस मामले में अकेला अपवाद बने, केवल इसी कारण अपने ही देश में इस्लामी क़ानून लागू करने से पीछे हटे?

पाकिस्तान में इस्लामी क़ानून का प्रवर्तन कैसे हो सकता है

इस श्रोतागण के सामने मैंने पहले इसी विषय पर एक भाषण दिया था जिसमें मैंने बताया था कि इस्लामी क़ानून की हक़ीक़त क्या है, उसका मक़सद और रूह क्या है, उसके बुनियादी सिद्धांत क्या हैं, हमारे मुसलमान होने के नाते वह हमसे कैसे संबंधित है, और हम अपने देश में इसे क्यों लागू करना चाहते हैं, और मैंने इसके बारे में लोगों द्वारा आम तौर पर उठाए जाने वाले संदेहों और झिझक पर भी सामान्य तौर पर बात की थी। आज का मेरा भाषण उस पहले भाषण की केवल एक संक्षिप्त परिचयात्मक अगली कड़ी के रूप में है। अब आइए विस्तार से देखें कि क्रमिक, चरणबद्ध सुधार की ऐसी नीति को वास्तव में कैसे लागू किया जाना चाहिए।

फ़ौरी इंक़लाब न मुमकिन है न मतलूब (तुरंत क्रांति न संभव है न वांछनीय)

इस पूरी चर्चा में, मैं पहले एक गंभीर भ्रांति को दूर करना चाहता हूँ जो इस्लामी क़ानून के प्रवर्तन से संबंधित बहुत-से लोग रखते हैं। बहुत-से लोग मानते हैं कि जिस देश की सरकार ने इस्लामी सरकार स्थापित करने का फ़ैसला किया है, उसे बस उस देश में इस्लामी क़ानून लागू करने का निर्णय लेना है, और सरकार फिर घोषणा कर सकती है कि क़ानून का बदलाव तुरंत, एक साथ प्रभावी होगा — सभी पिछले क़ानूनों को रद्द करके एक ही झटके में उनकी जगह पूरे इस्लामी क़ानून को लागू करके। यह पूरी तरह ग़लत सोच है, और यह ग़लती केवल आम लोगों में ही नहीं बल्कि कुछ काफ़ी परिष्कृत, अन्यथा शिक्षित हलक़ों में भी पाई जाती है।

जो लोग यह विचार रखते हैं वे यह नहीं समझते कि किसी भी देश के क़ानून कभी भी उस देश की समग्र नैतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था से बिल्कुल अलग नहीं होते — वे इसे बिल्कुल नहीं समझते। वे यह नहीं जानते कि किसी देश की पूरी क़ानूनी व्यवस्था उसके समग्र सामाजिक क्रम के साथ जुड़ी हुई होती है, और जब तक पूरी क़ौम के विभिन्न सामूहिक पहलू इसके साथ नहीं बदलते, तब तक किसी भी देश की क़ानूनी व्यवस्था को अकेले, पूरी तरह नहीं बदला जा सकता। न ही वे यह समझते हैं कि पूरे समाज की सामूहिक संस्थाओं में परिवर्तन लाने के लिए, और एक बिल्कुल अलग, पहले से मौजूद, ग़ैर-इस्लामी व्यवस्था की जगह एक बिल्कुल नई राजनीतिक, नैतिक, सामाजिक व्यवस्था को अपेक्षाकृत ठोस, टिकाऊ बुनियादों पर स्थापित करने के लिए कितनी सामूहिक कोशिश, संघर्ष, मेहनत और जद्दोजहद की ज़रूरत होती है। जो लोग इसे अलग तरह से देखते हैं, यह कल्पना करते हुए कि एक पूर्ण परिवर्तन वास्तव में कुछ महीनों के भीतर लाया जा सकता है, उनके पास बस इस बात की व्यावहारिक अंतर्दृष्टि नहीं है कि ऐसे मामले वास्तव में कैसे काम करते हैं। यही ठीक वजह है कि किसी भी सामूहिक व्यवस्था के परिवर्तन को एक विकसित होती, बढ़ती हुई प्रक्रिया के रूप में सबसे अच्छी तरह सोचा जाना चाहिए, और इस परिवर्तन का मार्गदर्शन करने के ज़िम्मेदार लोगों को अपने सामने एक स्पष्ट अंतिम लक्ष्य रखना चाहिए, लेकिन उन्हें उस लक्ष्य की ओर धीरे-धीरे, एक-एक सावधान क़दम से, लगातार काम करने के लिए भी

तैयार रहना चाहिए। यही वे लोग हैं जो फिर शिकायत करते हैं और धैर्य खो देते हैं, यह समझने में ख़ुद असफल रहते हुए कि किसी पूरी क़ौम को ग़ैर-इस्लामी व्यवस्था से विरासत में मिली स्थिति से एक व्यवस्थित और अनुशासित तरीक़े से सामूहिक जीवन की सच्ची इस्लामी व्यवस्था में लाना कितना कठिन है।

अहद-ए-नबवी की मिसाल (नबवी युग का उदाहरण)

इस क्रमिक दृष्टिकोण की सबसे अच्छी मिसाल वह क्रांति है जो रसूल, उन पर शांति हो, ने अरब में लाई थी। उस धन्य व्यक्ति के जीवन और मिशन के विवरण से थोड़ा भी परिचित कोई भी व्यक्ति पहले से जानता है कि उन्होंने शुरू से ही पूरे इस्लामी क़ानून को हर क्षेत्र में एक साथ, एक व्यापक पैकेज के रूप में लागू नहीं किया। बल्कि, उन्होंने इसे क्रमशः, एक-एक क़दम, सावधानी से चरणबद्ध क्रम में तैयार किया, परिस्थितियों और तत्परता के अनुसार पुराने तरीक़ों और पुराने रीति-रिवाजों को नए इस्लामी तरीक़ों और नियमों से क्रमशः बदलते और प्रतिस्थापित करते हुए, और हमेशा उस गति पर उचित ध्यान देते हुए जिस पर लोग वास्तव में ऐसे बदलाव को आत्मसात कर सकें। उन्होंने पहले इस्लाम की आवश्यक अवधारणाओं और नैतिक सिद्धांतों की बुनियाद रखी, और तभी, इन्हें लोगों के सामने प्रस्तुत करते हुए, उन्हें इस संदेश की ओर बुलाना और इसे स्वीकार करने का निमंत्रण देना शुरू किया। जिन लोगों ने इस पुकार को स्वीकार किया और उनके द्वारा प्रशिक्षित हुए, वे इस उद्देश्य के लिए प्रयासरत प्रतिबद्ध, अनुशासित लोगों का एक समूह बने, और यही वे लोग थे जिनका मन और व्यावहारिक आचरण का तरीक़ा शुद्ध और विशिष्ट रूप से इस्लामी चरित्र का बन गया। यह तभी था जब यह विशेष काम पूर्णता के एक निश्चित स्वाभाविक चरण पर पहुँचा कि रसूल, उन पर शांति हो, ने अगले क़दम उठाए — कि उन्होंने, मदीना में रहते हुए, पहले से ही ठीक इसी तरह की सरकार, शुद्ध इस्लामी सिद्धांतों पर आधारित सरकार, स्थापित करने के अंतिम उद्देश्य की ओर बुनियाद रखनी शुरू कर दी थी, जिसका उद्देश्य देश के जीवन को उन सच्ची ऊँचाइयों तक उठाना था जिन्हें इस्लाम अपने मक़सद के रूप में मानता है। इसी तरह, राज्य के हाथ में उपलब्ध राजनीतिक और भौतिक साधनों और संसाधनों के ज़रिए, रसूल, उन पर शांति हो, ने दृश्यमान, क्रमिक सुधार और निर्माण के इस काम को जारी रखा — संदेश को व्यापक रूप से फैलाते हुए, लोगों को इसकी ओर बुलाते हुए, एक नई सामाजिक व्यवस्था बनाने पर सचेत रूप से काम करते हुए, उस समय बड़ी हो रही एक पूरी पीढ़ी के लिए शिक्षा की नई संस्थाओं का विकास करते हुए, और, अपने ही युग की माँगों को देखते हुए, विशेष रूप से विश्वास के मामलों में विश्वसनीयता पर ध्यान देते हुए, विचार के तरीक़ों में पुराने रीति-रिवाजों और पुरानी प्रथाओं में सुधार करते हुए, अभिव्यक्ति के एक नए इस्लामी तरीक़े को फैलाते हुए, और, इस तरह, व्यावहारिक रीति-रिवाजों की एक विस्तृत श्रृंखला, और नए शिष्टाचार व व्यवहार में सुधार लाते हुए, जो धीरे-धीरे, ज़िंदगी के विभिन्न पहलुओं में विभिन्न

प्रयासों के दौर से, स्थापित हो गए, यहाँ तक कि आख़िरकार, लगभग दस वर्षों की अवधि में, देश भर में जीवन की एक संपूर्ण, पूरी इस्लामी व्यवस्था स्थापित और लागू की जा चुकी थी।

क़ुरआन और हदीस के सावधान अध्ययन से ही यह स्पष्ट होता है कि रसूल, उन पर शांति हो, ने यह काम किस क्रम में, और किस क्रमिक, चरणबद्ध पद्धति से किया — और यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। विवाह और तलाक़ का क़ानून सबसे पहले स्थापित होने वालों में से था। विरासत का क़ानून पहले ही वर्ष के भीतर लागू हो गया। आपराधिक न्याय का क़ानून पूरा होने में कई वर्ष लग गए। शराब की मनाही, इसी तरह, केवल चरणों में पूरी हुई, लगभग नौ वर्षों के दौरान, इससे पहले कि इसका पूर्ण क़ानूनी निषेध अंततः जारी किया गया। मक्का को, इस सब के दौरान, इसके सामाजिक रीति-रिवाजों के संबंध में सावधानी से, विचारपूर्वक संभाला गया, ठीक इसलिए कि वहाँ अभी तक एक इस्लामी सरकार पूरी तरह स्थापित नहीं हुई थी। लेकिन पूरे देश को धीरे-धीरे उसकी आर्थिक व्यवस्था में सुधारा गया, यहाँ तक कि अंततः एक नई वित्तीय व्यवस्था स्थापित की गई। ज़कात स्वयं, हालाँकि क़ुरआन में इससे भी पहले संदर्भित थी, केवल नौवें वर्ष में एक निश्चित, तय क़ानूनी दायित्व बनी। यह पूरा उपक्रम, किसी सच्ची इमारत के निर्माण की तरह ही था, जिसमें वास्तुकार ने पहले ही उस इमारत की सामान्य डिज़ाइन और योजना बना ली थी जिसे वह बनाना चाहता था, और फिर, क़दम-दर-क़दम, संसाधन-दर-संसाधन, और कुशल कारीगर-दर-कुशल कारीगर, उचित क्रम में इकट्ठा होकर, और सावधान, निरंतर प्रयास से, उस पूरी इमारत को अस्तित्व में लाया — यहाँ तक कि, बिल्कुल आख़िर में, पूरी इमारत, शुरू से ही जिस रूप की कल्पना की गई थी, बिल्कुल उसी रूप में पूर्ण खड़ी हो गई।

अंग्रेज़ी दौर की मिसाल

हमारे अपने ज़माने के काफ़ी क़रीब, हमारे ही देश में एक समानांतर मिसाल है: जब यहाँ ब्रिटिश शासन पहली बार स्थापित हुआ, तो अंग्रेज़ों ने तुरंत उस पूरी क़ानूनी व्यवस्था को नहीं बदला जो इस्लामी क़ानून के तहत सात-आठ सदियों से देश पर शासन कर रही थी। बल्कि, अपने शासन के लगभग पहले सौ वर्षों तक, फ़िक़्ह का क़ानून यहाँ लागू होता रहा, साथ ही पिछली व्यवस्था की जगह एक बिल्कुल नई व्यवस्था धीरे-धीरे बनाई जाती रही। इतिहास ने इस क्रमिक संक्रमण को मानो एक स्वाभाविक, निरंतर विकास की कड़ी के रूप में देखा है, जिसकी शुरुआती तारीख़ भी ठीक से मालूम नहीं — लेकिन राजनीतिक सत्ता पूरी तरह हासिल करने के बाद भी, अंग्रेज़ों को यहाँ की क़ानूनी व्यवस्था को अपने ही तरीक़े के अनुकूल रूप में बदलने में, पूरी मशीनरी को अपने ही उद्देश्यों के साथ जोड़ने के लिए इसे विस्तारित और परिवर्तित करने में, हर क़दम पर लगभग एक सदी लगी। यह परिवर्तन केवल क़लम की नोक से नहीं लाया गया: हमारी अपनी पुरानी शिक्षा व्यवस्था, और उससे जुड़े रोज़मर्रा की ज़िंदगी के

व्यावहारिक सरोकार, लंबे समय तक पुराने रीति-रिवाजों और संस्थाओं से गहराई से जुड़े रहे, और इन्हें धीरे-धीरे, एक लंबे समय में, किनारे धकेला गया और अंततः उपयोग से बाहर होकर लुप्त होने दिया गया, जबकि नई संस्थाओं को, एक बिल्कुल नई क़ानूनी और प्रशासनिक संरचना के अनुकूल, फिर उनकी जगह लेने के लिए आगे लाया गया। पुरानी धार्मिक संस्थाओं को धीरे-धीरे छोड़ दिया गया। क्रमिक सुधार के ज़रिए, इन विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों का देश के सामूहिक जीवन पर प्रभाव कई अलग-अलग स्रोतों से आया, अलग-अलग तरीक़ों से इस देश के सामूहिक जीवन पर फैलता हुआ, यहाँ तक कि अंततः पुराने क़ानून उपयोग से बाहर हो गए और नए क़ानूनों ने उनकी जगह ले ली।

तदरीज नागुज़ीर है (क्रमिकता अनिवार्य है)

अगर अब हम इस देश में एक बार फिर इस्लामी क़ानून लागू करना चाहते हैं, तो हमें भी, बिल्कुल ब्रिटिश सरकार के सौ वर्षों के क्रमिक सुधार की तरह, अपने ही प्रयास से नए सिरे से यह तय करना होगा कि ऐसा परिवर्तन कैसे लाया जाए — यह केवल एक क़लम के इशारे से पूरा नहीं किया जा सकता। हमारी अपनी पुरानी शिक्षा व्यवस्था और आज की हमारी ज़िंदगी पर उसका व्यावहारिक प्रभाव लंबे समय से एक-दूसरे से अलग हो चुके हैं, यह देखते हुए कि वे कितने लंबे समय से अलग रहे हैं, और इसे रातोंरात ठीक नहीं किया जा सकता।

दूसरी ओर, हमारी मौजूदा शिक्षा व्यवस्था ने ऐसे व्यक्तियों को जन्म दिया है जो प्रभावी रूप से धार्मिक मामलों में अंधे और बहरे हैं, और उनके बीच शायद ही कोई व्यक्ति मिले जिसे इन मामलों की प्रत्यक्ष, व्यक्तिगत परिचिति हो — क्योंकि धार्मिक शिक्षा की उपेक्षा के प्रभाव लंबे समय से जारी हैं, और हमारा क़ानूनी भंडार, इस निलंबित स्थिति के कारण, सदियों से स्थगित पड़ा रहा है, उसकी संभावना अवास्तविक बनी हुई है। यह, एक तरह से, पीछे खड़ा छोड़ दिया गया है, जबकि हमारे अपने युग की न्यायिक ज़रूरतें आगे बढ़ती चली गई हैं। इस काम के लिए ज़रूरी माँगों को उचित तरीक़े से पूरा करने में सक्षम लोगों को तैयार करने के लिए एक लंबी अवधि के निरंतर, अनुशासित प्रयास की ज़रूरत होगी। और इससे भी बड़ी सच्चाई यह है कि नैतिकता, समुदाय जीवन, अर्थव्यवस्था और राजनीति की वह पुरानी संरचना जिसकी इस्लाम कल्पना करता है, विभिन्न तरीक़ों से पहले ही अपने मूल रूप से काफ़ी बदल चुकी है। अगर केवल क़ानूनी व्यवस्था को बदलना संभव होता जबकि इन सभी जुड़ी हुई संरचनाओं को बिल्कुल वैसा ही छोड़ दिया जाए जैसी वे अभी हैं, तो कोई नकारात्मक परिणाम चिंता की बात नहीं होती — लेकिन सच यह है कि हमारी मौजूदा स्थिति में क़ानूनी व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था वास्तव में गहराई से आपस में जुड़ी और परस्पर निर्भर हैं; और रीति-रिवाज, नैतिकता, सभ्यता, अर्थव्यवस्था और राजनीति की जुड़ी हुई संरचनाओं में संबंधित परिवर्तन लाए बिना हम जो भी क़ानूनी परिवर्तन लाएँगे, वह बिल्कुल वैसा ही बेमेल

परिणाम देगा जैसा एक तरह की ज़मीन के पौधे को एक बिल्कुल अलग, अनुपयुक्त तरह की मिट्टी में लगाने से मिलता है, जहाँ दोनों एक-दूसरे के अनुकूल ही नहीं होते।

यही ठीक वजह है कि यह कल्पना करना पूरी तरह ग़लत होगा कि सुधार और परिवर्तन इस काम के लिए वास्तव में ज़रूरी क्रमिकता के बिना, तुरंत, एक साथ किए जा सकते हैं — बल्कि, हमें ज़रूरत है कि क़ानून में ज़रूरी कई-कई परिवर्तन, नैतिकता, शिक्षा, रीति-रिवाज, सभ्यता, अर्थव्यवस्था और राजनीति में ज़रूरी संबंधित परिवर्तनों के साथ सावधानी से, विचारपूर्वक समन्वय और उचित अनुपात में आगे बढ़ें।

एक ग़लत बहाना

लेकिन जो लोग क्रमिक सुधार के इस वास्तव में ध्वनि और उचित सिद्धांत को सही सिद्धांत से पूरी तरह बचने का, और इस काम से पूरी तरह मुँह मोड़ने का बहाना बनाने के लिए इस्तेमाल करते हैं, वे असल में अपने मामले का समर्थन करने की कोशिश में पूरी तरह ग़लत दलील दे रहे हैं। ऐसे लोग इस तरह की बातें कहते हैं: हमारे देश को, सबसे पहले, एक बिल्कुल धर्मनिरपेक्ष राज्य स्थापित करने की ज़रूरत है — एक ऐसा राज्य जिसका धर्म से कोई लेना-देना न हो — राज्य को बस अस्तित्व में रहने दो, और उसके बाद ही, जब भी आसपास का माहौल इस्लाम के अनुकूल हो जाए, तब इस्लामी क़ानून लागू किया जाए, और तभी एक इस्लामी सरकार अस्तित्व में आए। यही, वे कहते हैं, इस मामले को रखने का एकमात्र उचित, बेतुका न होने वाला तरीक़ा होगा। मैं उनसे पूछता हूँ: क्या यह वैसा माहौल है जिसे वे बिना धर्म का राज्य, जिसका वे वर्णन करते हैं, कभी अपने आप तैयार कर सकता है? क्या पूरी तरह धर्मनिरपेक्ष क़िस्म के नेता और अधिकारी, अपनी पहल पर, पूरे दिल से इस्लामी जीवन-व्यवस्था के निर्माण के लिए अनुकूल माहौल तैयार करने के लिए, पूरी तरह और स्वतंत्र रूप से समर्पित होंगे? या यह वास्तव में बिल्कुल स्पष्ट नहीं है कि इस तरह का, पूरी तरह धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण वाला नेतृत्व, ऐसे इस्लामी माहौल के लिए ज़मीन तैयार करने और सामग्री बनाने के काम को कभी सच्चे दिल से हाथ में नहीं लेगा? ये धर्मनिरपेक्ष लोग जो यह चाहते हैं वे इस साफ़ हक़ीक़त को नज़रअंदाज़ कर देते हैं कि इस इस्लामी माहौल को तैयार करने का काम कभी भी अपने आप नहीं हो सकता था — किसी को, उनके पास उपलब्ध शक्ति, संसाधन और साधनों का उपयोग करते हुए, वास्तव में इस तैयारी को हाथ में लेना होता है। तो फिर, उस धर्मनिरपेक्ष ढाँचे में, किसके पास कोई ऐसी शक्ति, या कोई संसाधन या साधन होंगे, जो अपने शासन के दौरान एक धर्म-मुक्त राज्य द्वारा इस्लामी माहौल की तैयारी लाए — वही माहौल, जो सामान्य क्रम में, अपने पूरे शासन के दौरान, उसी ग़ैर-इस्लामी व्यवस्था के निर्माण और निरंतर विकास के लिए ही समर्पित रहेगा जिसे उसने स्वयं स्थापित किया था, और जिसे वह पूरी तरह आगे विकसित करते रहने का इरादा रखता है?

हमने अभी तक, ऊपर दिए गए उदाहरणों में, उस सिद्धांत के पर्याप्त रूप से क्रमिक उदाहरण प्रस्तुत नहीं किए हैं जिसे हम यहाँ स्थापित करने की कोशिश कर रहे हैं। अगर लोग इन मामलों को अपने ही मन में नए सिरे से, एक उचित क्रम में पुनर्व्यवस्थित करें, तो वे इस बिंदु को कहीं बेहतर समझेंगे: कि ग़ैर-इस्लामी साधनों के ज़रिए इस्लामी जीवन-व्यवस्था का निर्माण करना, सिद्धांततः, बिल्कुल संभव है, भले ही इस तरह इसका निर्माण करना केवल क्रमशः, धीरे-धीरे, समय के साथ ही संभव है; असली फ़र्क़ केवल यही है कि इस विशेष तरीक़े से इसे क्रमशः बनाने के लिए काफ़ी शक्ति वाले वास्तुकार की ज़रूरत होती है, ऐसे व्यक्ति की जो लगातार अपने सामने एक निश्चित, तय लक्ष्य रखे, और उस लक्ष्य की ओर लगातार काम करता रहे। इस्लाम की अपनी क्रांति के शुरुआती वर्षों में, ठीक इसी तरह का काम पूरा किया गया था: रसूल, उन पर शांति हो, ने अपने शुरुआती वर्ष शिक्षा और प्रचार के माध्यम से इस काम के लिए उपयुक्त लोगों को तैयार करने, लोगों की सोच को बदलने, और, समाज को पुनर्व्यवस्थित और अनुशासित करने के लिए सरकार की अपनी सत्ता का उपयोग करते हुए, उस समाज के नैतिक और सांस्कृतिक ताने-बाने को सुधारने और नए सिरे से बनाने के काम में लगाए। ठीक इन्हीं साधनों के इस्तेमाल के ज़रिए, भारत में ब्रिटिश शासन के शुरुआती दौर में, अंग्रेज़ शासकों ने भी इसी तरह अपनी ग़ैर-इस्लामी क़ानूनी व्यवस्था को पूरे देश की जीवन-व्यवस्था में लागू करने का काम आगे बढ़ाया, और इस तरीक़े से जो परिवर्तन उन्होंने लाए, वे अंततः वही श्रेणी के परिवर्तन हैं जिनका हमें आज सामना करना और समाधान करना है।

सही तरतीब-ए-कार (कार्य का सही क्रम)

मेरा मानना है, और मुझे उम्मीद है हर उचित व्यक्ति इस बात पर मुझसे सहमत होगा, कि इस मामले में हमें जिस लक्ष्य को पहली प्राथमिकता देनी चाहिए वह यह है: चूँकि पाकिस्तान की माँग इस्लाम के ही नाम पर की गई थी, और यह ठीक इसी बुनियाद पर हमारा अपना राज्य स्थापित हुआ था, यह राज्य — चाहे और कुछ भी हो — इस तरह से ढाला जाना है कि यह एक इस्लामी जीवन-व्यवस्था के निर्माण के लिए एक साधन के रूप में काम कर सके। यह हमारा अपना राज्य है, और यही हम हैं जिन्हें अपने ही राष्ट्रीय संसाधनों और साधनों से, इस काम को किसी और को नहीं सौंपना है, क्योंकि हमारे लिए यह काम करने या हमें ज़रूरी सामग्री देने के लिए हम किसी और पर निर्भर नहीं रह सकते।

यह कहना सही है: कि अगर इस निर्माण की दिशा में इस राह पर सबसे पहला क़दम यह होना चाहिए — जैसा मैं पहले ही स्पष्ट कर चुका हूँ — कि हम अपने ही राज्य को, जो अभी स्वतंत्रता प्राप्त करने वाले देशों में अपेक्षाकृत युवा है, इस्लामी बुनियादों पर बने राज्य में बदलें, तो यह हम स्वयं को और इस राज्य को मुसलमान बनाकर किया

जाना चाहिए, इसे एक विधिवत और उचित रूप से आयोजित संविधान सभा के ज़रिए एक औपचारिक संवैधानिक रूप देकर, जो इस आशय की एक औपचारिक घोषणा करे:

(1) कि पाकिस्तान में संप्रभुता ईश्वर की है, और राज्य उसका प्रतिनिधि है, जो उसकी ओर से देश का प्रशासन करता है।

(2) कि राज्य का बुनियादी संवैधानिक क़ानून वह शरीयत है जो ईश्वर ने हमें उसके रसूल, मुहम्मद, उन पर शांति और आशीर्वाद हो, के ज़रिए दी है, और जो हमें इसी माध्यम से प्राप्त होती है।

(3) कि आगे से, शरीयत के विपरीत सभी क़ानूनों में क्रमशः संशोधन किया जाएगा, और आगे से शरीयत के विपरीत कोई नया क़ानून नहीं बनाया जाएगा।

(4) कि राज्य, अपनी ही शक्तियों के प्रयोग में, उन सीमाओं को पार नहीं करेगा जो इस्लाम ने स्वयं उसके लिए तय की हैं।

यह घोषणा प्रभावी रूप से एक गवाही है — जो राज्य की अपनी संवैधानिक भाषा में, यानी एक विधिवत गठित संविधान सभा के माध्यम से, औपचारिक रूप से की जानी चाहिए — यह घोषित करते हुए कि हमारा राज्य एक 'मुस्लिम' राज्य है। एक बार यह घोषणा ठीक और सही ढंग से की जाए, तो धार्मिक विद्वानों को समझ आ जाएगा कि उन्हें अब अपना काम किस उद्देश्य से, और किस दिशा में करना है, और न्यायविदों को भी इसे ध्यान में रखना चाहिए और इसे उचित महत्व देना चाहिए, ताकि वे ठीक से समझ सकें कि वे किसके लाभ के लिए, और किस उद्देश्य से काम कर रहे हैं। आम लोगों को भी — वे अनगिनत लाखों जिनके पास धार्मिक विद्वानों जैसा विशेषज्ञ ज्ञान और समझ नहीं है — यह जानने की ज़रूरत है कि उनके वोट और उनके चुनाव किस उद्देश्य से और किस दिशा में इस्तेमाल किए जाने चाहिए, और उन्हें किनके बीच चुनाव करना है। मतदाताओं को, अंततः, वकीलों और क़ानूनी सलाहकारों की ज़रूरत होती है जिनसे वे समय आने पर सलाह ले सकें, और जिनकी ओर वे मार्गदर्शन के लिए मुड़ सकें, लेकिन ऐसे लोगों में शायद ही कोई निश्चितता के साथ जान पाता है कि चुनाव के लिए खड़े कई उम्मीदवारों में से कौन-से वास्तव में इस कार्य के प्रति सच्चे हैं, कौन-से स्वार्थी, सांसारिक और बेईमान हैं, और कौन-से उद्देश्यपूर्ण, सिद्धांतवादी लोग इस काम के लिए वास्तव में उपयुक्त हैं। अब तक यह उद्देश्य लोगों के सामने कभी स्पष्ट रूप से नहीं रखा गया, ताकि वे इस काम के लिए सबसे उपयुक्त लोगों का सही चुनाव कर सकें, और ठीक इसी वजह से बहुत-से लोग अपने ही दिलों में टटोलते रह जाते हैं, आगे का कोई रास्ता खोजने की उम्मीद में। अब, अगर हम सच में एक उचित लिखित संविधान पर इस्लामी राज्य बनाना चाहते हैं, तो लोगों को सबसे पहले

जिस सवाल का जवाब चाहिए वह यह है: यह संविधान किस तरह की व्यवस्था स्थापित करेगा, और इसका मक़सद क्या पूरा करना है? लोगों को यह जानने की ज़रूरत है कि सक्षम, उपयुक्त व्यक्तियों का चयन कैसे करें, और किस मापदंड से उनके चयन को परखा जाना चाहिए — एक ऐसा मामला जिसके बारे में, सच कहा जाए तो, अभी हमारे बीच कोई स्पष्ट, सहमत मापदंड मौजूद नहीं है।

दूसरा क़दम

दूसरा ज़रूरी क़दम यह है: इसी मतदाता वर्ग को, जिसने अभी-अभी इस नए संविधान के मसौदे के लिए एक निकाय चुना है, यह जागरूक करना कि उन्हें अब — महज़ सांसारिक सफलता से अलग नैतिक मापदंडों के आधार पर ठीक-ठीक — इस काम के लिए उपयुक्त ईमानदार, सच्चे, सिद्धांतवादी और अच्छे चरित्र वाले लोगों की खोज करनी चाहिए, और उन लोगों से बचना चाहिए, और उनसे ध्यान हटाना चाहिए, जिनकी नैतिकता, मानसिकता और विद्वत्ता उस मापदंड को पूरा नहीं करती जो लोगों के वास्तविक लाभ के लिए, सच्चे मन से काम करने के लिए ज़रूरी है, उन लोगों की तुलना में जो वास्तव में इस काम के लिए स्वयं को समर्पित करेंगे।

तो फिर, एक बार जब इसी माध्यम से राज्य को ठीक से एक मुस्लिम राज्य में सुधार दिया जाए, तो दूसरा क़दम यह है: सामूहिक जीवन की हर शाख़ को सुधारने के लिए एक व्यापक योजना तैयार की जानी चाहिए, और इसे व्यवहार में लाने के क़दम उठाए जाने चाहिए; हमारी शिक्षा व्यवस्था को नए सिरे से ढालने के लिए राज्य के हर साधन और संसाधन का उपयोग किया जाना चाहिए। रेडियो, प्रेस, सिनेमा, पत्र और पत्राचार, किताबें — देश की सक्षम नागरिकता पर सामूहिक प्रभाव के हर साधन और हर स्रोत को समाज और सभ्यता के क्षेत्रों में, साहित्यिक और कलात्मक रचनात्मकता के क्षेत्रों में, सुधार और एक ताज़ा, नए इस्लामी दृष्टिकोण के विचारों के प्रसार की ओर मोड़ा जाना चाहिए, ताकि समाज और सभ्यता को जिस नैतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की ज़रूरत है उसकी उचित बुनियाद रखी जा सके। स्वयंसेवी दस्ते, पुलिस, सेना, अदालतें, और कार्यपालिका, शुरू से ही, अपनी रैंकों में उन तत्वों को क्रमशः बाहर करती जानी चाहिए जिनकी आदतें, स्वभाव से भ्रष्ट और बेईमान, बेईमान और अधार्मिक झुकाव दिखाती हैं, और इसके बजाय उन तत्वों को बढ़ावा देना और सशक्त बनाना चाहिए जो इस सुधार के काम में सहायता के लिए तैयार हैं; आर्थिक व्यवस्था को भी बुनियादी, संरचनात्मक परिवर्तन की ज़रूरत है, और इस उद्देश्य की ओर पारंपरिक, प्राचीन, आधुनिक और पश्चिमी प्रभाव वाली बुनियादों की एक व्यापक, अच्छी तरह सोची-समझी और क्रमशः लागू की जाने वाली योजना को बिल्कुल नए सिरे से, व्यवस्थित तरीक़े से बनाने की ज़रूरत है, एक ऐसी योजना जो धीरे-धीरे, धैर्य से, और लंबे समय तक निरंतर प्रयास से बनाई और निर्मित की जाए।

मुझे पूरा विश्वास है कि अगर एक धर्मनिष्ठ और सक्षम नेतृत्व समूह पूरे देश की, और उसके सभी संसाधनों और राज्य की पूरी मशीनरी की, ज़िम्मेदारी संभाले, और लगातार, एक ठीक से अनुशासित, व्यवस्थित तरीक़े से, इस देश के राष्ट्रीय जीवन के हर क्षेत्र से चुने गए सच्चे और सक्षम लोगों के समूह द्वारा नेतृत्व के पदों पर नियुक्त, तैयार किए गए एक स्पष्ट सुधार योजना के साथ काम करे, तो यह काम, मात्र दस से पंद्रह वर्षों में, इस देश के सामूहिक जीवन की पूरी शक्ल पूरी तरह बदल सकता है — और यह परिणाम निश्चित रूप से और बिना किसी अपवाद के पीछे आएगा, ठीक इसलिए कि ऐसा परिवर्तन एक ठीक से सोची गई, सुसंगत योजना के अनुसार आगे बढ़ाया जाएगा, समय के साथ, क़दम-दर-क़दम, लगातार काम करते हुए।

लेकिन अगर इस क्रमिक दृष्टिकोण को टाला जाए, और अगर इसके बजाय बिना किसी उचित, सुसंगत योजना के मन में परिवर्तन किए जाएँ, या अगर सुधार की प्रक्रिया को लापरवाही से किया जाए या पूरी तरह छोड़ दिया जाए, तो कोई अच्छा परिणाम नहीं मिलेगा — बल्कि, इसके ठीक उलट होने की संभावना है: क्योंकि उस स्थिति में, क़ानूनी व्यवस्था और उस पर निर्भर दो जुड़ी हुई व्यवस्थाएँ एक-दूसरे के साथ बुरी तरह असंतुलित बनी रहेंगी, और ऐसी परिस्थितियों में किए गए किसी भी क़ानूनी परिवर्तन को गंभीर बेमेलपन का सामना करना पड़ेगा, जो प्रभावी रूप से, एक विदेशी पौधे को ऐसी मिट्टी में लगाने जैसा हो जाएगा जो उसके अनुकूल बिल्कुल नहीं है, ऐसी ज़मीन में जहाँ उसका अपना स्वभाव कोई स्वाभाविक अनुकूलता नहीं पाता। ठीक इसी वजह से सुधार और परिवर्तन कभी भी बिना किसी सुसंगत योजना के नहीं किए जाने चाहिए — बल्कि, हमें ज़रूरत है कि हम जो क़ानूनी सुधार और परिवर्तन लाना चाहते हैं, वे नैतिकता, शिक्षा, रीति-रिवाज, सभ्यता, अर्थशास्त्र और राजनीति में ज़रूरी संबंधित परिवर्तनों के साथ सावधान अनुपात और संतुलन में आगे बढ़ें।

इस्लामी क़ानून के प्रवर्तन के लिए रचनात्मक कार्य

अब मैं इस काम के लिए ज़रूरी विशिष्ट रचनात्मक कार्य के बारे में कुछ विवरण दूँगा, देश की क़ानूनी व्यवस्था लागू करने और इस्लामी क़ानूनों को अधिनियमित करने के विषय पर — एक ऐसा मामला जिसकी ओर मैंने इस भाषण श्रृंखला में पहले, संक्षेप में, इशारा किया है। चूँकि सामूहिक जीवन के हर क्षेत्र में निर्माण का काम पूरा करने में लंबा समय लगता है, हमारी अपनी पुरानी क़ानूनी व्यवस्था की उपेक्षा और हमारे ही देश में इसके लंबे समय तक अनुपयोग ने इसे नुक़सान पहुँचाया है और कई जगहों पर बुरी तरह जर्जर और टूटा-फूटा छोड़ दिया है। लेकिन इस समय मैं अपनी बातें विशेष रूप से क्रम में कुछ प्रस्तावों को रखने के लिए समर्पित करना चाहता हूँ जो सीधे इसी एक काम से — यानी, क़ानून और न्यायिक व्यवस्था के सुधार से — संबंधित हैं।

एक क़ानूनी अकादमी की स्थापना

इस काम का पहला पहलू जिसे हाथ में लेने की ज़रूरत है वह एक उचित क़ानूनी अकादमी की स्थापना है, जो हमारे पूर्वजों से हमें प्राप्त न्यायशास्त्रीय ज्ञान के पूरे भंडार की गहन समीक्षा के लिए समर्पित हो, इस पर आगे कोई भी निर्माण शुरू करने से पहले — एक ऐसी समीक्षा जो पहले यह ठीक से पहचानने से शुरू हो कि हमारे पास पहले से मौजूद किताबों और सामग्रियों में से कौन-सी वास्तव में ज़रूरी हैं, और सावधानी से, विद्वत्तापूर्ण कठोरता के साथ, इन किताबों में शामिल इस्लामी न्यायशास्त्र के स्रोतों की प्रामाणिकता स्थापित करना। इस सामग्री को केवल जैसे की तैसे उर्दू में स्थानांतरित नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि इसे हमारे मौजूदा युग की माँगों के अनुकूल तरीक़े से पुनर्व्यवस्थित और पुनर्क्रमित भी किया जाना चाहिए, ताकि इसका पूरा लाभ वास्तव में उन तक पहुँच सके जिन्हें इसकी ज़रूरत है।

जैसा आप पहले से जानते हैं, न्यायशास्त्र (फ़िक़्ह) हमारा अपना सबसे बड़ा ख़ज़ाना है, और इसकी असली संपत्ति मुख्य रूप से अरबी भाषा में मौजूद है — लेकिन हमारे अपने शिक्षित वर्ग, कुल मिलाकर, इस भाषा से अपरिचित बने हुए हैं, और इसी अपरिचिति के कारण, और कुछ हद तक कुछ अपरिचित ऐतिहासिक और फ़िर्क़ावाराना जटिलताओं के कारण भी, हमारे बीच अन्यथा शिक्षित बहुत-से लोग भी हमारी अपनी न्यायशास्त्रीय विरासत के बारे में काफ़ी ग़लत धारणाएँ रखते हैं — यहाँ तक कि कभी-कभी यह मानने की हद तक कि विभिन्न न्यायशास्त्रीय स्कूलों में दर्ज अधिकांश क़ानूनी मतभेद बीते युग के प्रतिद्वंद्वी न्यायविदों के बीच छोटी-मोटी, स्वार्थी झड़पों के अलावा कुछ नहीं दर्शाते, कोई वास्तविक, व्यावहारिक मूल्य के मतभेद नहीं हैं, और ईमानदार बात यह होगी कि इस सबको बस त्याग कर, बिल्कुल नए सिरे से, हमारी अपनी चुनी हुई नई सोच के साथ शुरुआत की जाए।

जब यही लोग अंततः पिछले तेरह सदियों में हमारे अपने शुरुआती न्यायविदों के जीवन के वास्तविक ऐतिहासिक तथ्यों का ठीक से अध्ययन करते हैं, तो उन्हें एक बिल्कुल अलग सच्चाई मिलती है — कि ये पूर्वज कभी अपना समय तुच्छ, स्वार्थी झगड़ों में लगाने में नहीं बिताते थे, बल्कि, इसके पूरी तरह विपरीत, बाद की मुसलमानों की पीढ़ियों के लिए एक अत्यंत मूल्यवान विरासत छोड़ गए, जिसे हमें आज अपने निर्माण कार्य में एक मज़बूत और ठोस बुनियाद के रूप में इस्तेमाल करना चाहिए, और जिसे, अगर ठीक से पुनर्व्यवस्थित और पुनर्क्रमित किया जाए, तो आज की ज़रूरतों को उपयोगी रूप से पूरा करने में पूरी तरह सक्षम है, और हमारे अपने वर्तमान युग की मांगी गई कोई भी अतिरिक्त ज़रूरत फिर इसके ऊपर आगे बनाई जा सकती है। इसके अलावा, इन सभी सिद्धांतों, आदेशों और उनकी सीमाओं का सावधान और विस्तृत अध्ययन किसी भी निष्पक्ष व्यक्ति को एक वास्तव में उचित निष्कर्ष तक ले जाएगा: कि शरीयत ने कभी बिना अच्छे कारण के कोई आदेश जारी नहीं किया, न ही कहीं बिना

वास्तविक और पर्याप्त कारण के कोई निषेध लगाया। जहाँ इंसानी बुद्धि और इच्छाशक्ति किसी दिए गए मामले में उस चीज़ से भटक सकती है जिसे आम तौर पर 'प्रलोभन' कहा जाता है, शरीयत, ठीक ऐसी परिस्थितियों में, स्पष्ट और साफ़ मार्गदर्शक चिह्न प्रदान करती है — यह दिखाते हुए कि सही राह किस ओर है, और इस तरह, हमारे सोंत स्वतंत्र आचरण को किन सीमाओं के भीतर हक़ हासिल है, और किन सीमाओं के भीतर हमारे आचरण की स्वतंत्रता को उचित रूप से नियंत्रित रखना चाहिए, इसे चिह्नित करते हुए।

इन सिद्धांतों, विचारों और नियमों की केवल एक शुद्ध बौद्धिक और विद्वत्तापूर्ण महारत से परे, हमारे युग को असल में एक सच में स्वतंत्र, क़ानूनी रूप से प्रशिक्षित अधिकारियों के निकाय की ज़रूरत है — ऐसे लोग जो इन सिद्धांतों को सही ढंग से लागू और व्याख्यायित करने में सक्षम हों, सही तरीक़े से समानता और स्वतंत्र क़ानूनी विवेचन व न्यायिक वरीयता का अभ्यास कर सकें, और इन सिद्धांतों को अपने ही क़ानूनों पर एक प्रगतिशील, विकासशील आधुनिक राज्य द्वारा सामना की जाने वाली रोज़मर्रा की ज़िंदगी की वास्तविक माँगों के अनुकूल तरीक़े से लागू कर सकें। हमारी अपनी न्यायशास्त्रीय परंपरा के ऐतिहासिक विकास की उचित समझ के बिना, यह जानना संभव नहीं होगा कि इस्लामी क़ानून इतिहास भर कैसे आगे बढ़ा और विकसित हुआ, न ही यह जानना संभव होगा कि यह भविष्य में सबसे अच्छे किस तरीक़े से आगे बढ़ सकता है; न ही यह जानना संभव होगा कि हमारे न्यायविद मौत, विशाल इस्लामी क़ानूनी विचार भंडार से ऐसा समृद्ध, व्यापक ज्ञान का भंडार क्यों जुटा पाए — न ही, वास्तव में, हम आज विभिन्न स्थापित न्यायशास्त्रीय स्कूलों की स्थापित न्यायशास्त्रीय परंपराओं से मिले संचित लाभ पर पहले भरोसा किए बिना, पूरी तरह शुरू से ख़ुद अपने स्वतंत्र क़ानूनी विवेचन का नया अभ्यास शुरू करके फिर से वही काम क्यों नहीं कर सकते। इन सभी कारणों से, यह ज़रूरी है कि एक सुव्यवस्थित, सक्षम विद्वानों की संस्था पहले निम्नलिखित ज़रूरी कार्यों की पूरी तरह समीक्षा करे और उसे पूरा करे।

अहकाम की तदवीन (नियमों का संहिताकरण)

इस क्रम में दूसरा महत्वपूर्ण काम यह है कि विद्वानों और न्यायविदों का एक उचित रूप से गठित निकाय, जिसे क़ानून के क्षेत्र में वास्तविक विशेषज्ञता हासिल हो, इस्लामी क़ानूनी नियमों के पूरे भंडार को, एक आधुनिक युग की ज़रूरतों के अनुकूल रूप में, बिल्कुल वैसे ही जैसे आधुनिक क़ानून संहिताएँ (CODIFY) करती हैं, संहिताबद्ध करने का काम हाथ में ले।

क़ानूनी तालीम की इस्लाह (सुधार)

मैंने अपनी पहले की टिप्पणियों में यह पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि जहाँ तक इस्लामी क़ानून का सवाल है, किसी भी विशेष न्यायविद या न्यायशास्त्रीय स्कूल से जुड़े किसी भी नियम को सख़्त अर्थ में कभी 'क़ानून' नहीं माना जा सकता महज़ इसलिए कि उस विशेष न्यायविद, या विशेष स्कूल ने ऐसा कहा — 'क़ानून' शब्द केवल कुछ विशिष्ट चीज़ों से संबंधित है:

(1) कोई भी नियम जो ईश्वर, वह उच्च है, ने क़ुरआन में स्पष्ट रूप से दिया हो;

(2) कोई भी नियम जो क़ुरआनी नियम के अपने अंतर्निहित सिद्धांत पर आधारित हो, अधिक विस्तृत रूप में दिया गया हो, या रसूल, उन पर शांति और आशीर्वाद हो, की किसी प्रामाणिक हदीस के ज़रिए स्वतंत्र रूप से स्थापित कोई नियम;

(3) कोई भी अनुमान, समानता, स्वतंत्र क़ानूनी विवेचन, न्यायिक वरीयता, या विद्वत्तापूर्ण सहमति (चाहे विद्वानों के सामान्य निकाय की हो, या एक स्वीकृत, सहमत क़ानूनी राय की) जिस पर किसी दिए गए देश के मुसलमानों का विशाल बहुसंख्यक एक तय सहमति पर पहुँचा हो;

(4) ऐसे किसी सामान्य सिद्धांत का कोई भी अनुप्रयोग जिसे किसी दिए गए देश में, वहाँ के उचित रूप से योग्य अधिकारियों की सामान्य या बहुसंख्यक सहमति द्वारा, किसी दिए गए समाधान की ज़रूरत वाले मामले पर तय किया गया हो।

मेरा प्रस्ताव तब यह है: कि इन मामलों के विशेषज्ञों का एक निकाय पहली तीन श्रेणियों से संबंधित नियमों को एक प्रामाणिक संहिता (CODE) रूप में व्यवस्थित करे, और भविष्य में जो भी सहमति-आधारित या बहुसंख्यक निर्णय और सहमतियाँ पहुँची जाएँ, उन्हें जैसे-जैसे वे उत्पन्न हों, संशोधन के रूप में इस हमारी उसी किताब में जोड़ा जाए। अगर इस प्रकार की एक संहिताबद्ध नियम-पुस्तक तैयार की जाए, जिसमें क़ानून के सभी वास्तविक, आवश्यक नियम शामिल हों, तो हमारी बाक़ी सभी न्यायशास्त्र पुस्तकें फिर इस संहिताबद्ध क़ानून पर एक टीका (COMMENTARY) के रूप में काम कर सकती हैं। इससे हमारी अदालतों में इस्लामी क़ानून की समीक्षा और व्याख्या का काम भी काफ़ी आसान हो जाएगा, और इस क़ानून की शिक्षा देना भी आसान हो जाएगा।

तीसरा ज़रूरी काम यह है कि हमें अपने ही यहाँ के लॉ कॉलेजों में पढ़ाने के पुराने तरीक़े को बदलना होगा, और उसकी जगह ऐसे प्रशिक्षण के तरीक़े अपनाने होंगे जो वास्तव में इस्लामी क़ानून के छात्रों को इस्लामी क़ानून की एक उचित बुनियाद वाली और सही समझ के लिए ज़रूरी व्यावहारिक और नैतिक गुणों से लैस करें।

फ़िलहाल, जिस दृष्टिकोण से हमारी क़ानूनी शिक्षा व्यवस्था आगे बढ़ती है वह पूरी तरह अपर्याप्त है। इस कमी के परिणामस्वरूप, इससे निकलने वाले स्नातकों में न केवल इस्लामी क़ानून का सच्चा ज्ञान कम होता है, बल्कि उनकी पूरी मानसिकता अक्सर ऐसे विचार-पैटर्न से आकार लेकर बन जाती है जो बिल्कुल इस्लामी नहीं होते, उनमें ऐसे नैतिक गुण बनाते हैं जो वास्तव में सच्चे इस्लामी क़ानून को लागू करने के काम के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त हैं। अगर मामले ऐसे ही जारी रहते हैं, तो हम ऐसे न्यायविद तैयार नहीं कर पाएँगे जो हमारी अपनी अदालतों, हमारी धार्मिक अदालतों, और मुफ़्ती व क़ाज़ी के दफ़्तरों को वास्तव में उनसे अपेक्षित ज़िम्मेदारियों को निभाने के लिए वास्तव में उपयुक्त और सुसज्जित हों।

यही उद्देश्य मैं आज आपके सामने रखना चाहता हूँ, अन्य विद्वान लोगों से भी अनुरोध करते हुए कि वे इन मामलों पर ध्यान दें, अपने सुधार और अपने अतिरिक्त सुझाव पेश करें, ताकि एक साथ एक अच्छी, वास्तव में व्यावहारिक योजना बनाई जा सके।

(1) इस सुधार की दिशा में पहले क़दम के रूप में यह ज़रूरी है कि आगे से, लॉ कॉलेज में प्रवेश के लिए अरबी भाषा से कुछ पूर्व-परिचिति की ज़रूरत हो — इतनी महारत कि व्यक्ति क़ुरआन, हदीस और फ़िक़्ह का ठीक से अध्ययन कर सके। अगर हम वाक़ई, आगे से, इस्लामी क़ानून की शिक्षा को पूरी तरह अपना बनाना चाहते हैं, तो हमें अंततः इस विद्या क्षेत्र से जुड़ी सारी ज़रूरी सामग्री और किताबों को उर्दू में स्थानांतरित करना होगा — लेकिन इसे करने के बाद भी अरबी भाषा में महारत की ज़रूरत बनी रहेगी, क्योंकि इस्लामी न्यायशास्त्र में कोई भी व्यक्ति तब तक वास्तव में अंतर्दृष्टि और समझ हासिल नहीं कर सकता जब तक उसने उस भाषा की बारीकियों से वास्तविक, व्यक्तिगत परिचिति हासिल न की हो जिसमें क़ुरआन उतरा और जिसमें रसूल, उन पर शांति हो, की हदीसें कही गईं।

(2) अरबी के साथ-साथ यह भी ज़रूरी है कि क़ानूनी शिक्षा शुरुआत से ही, छात्रों को स्वयं क़ुरआन और हदीस पढ़ने में सीधा और उचित आधार देकर शुरू हो, ताकि हमारी यह पूरी व्यवस्था इसकी अपनी सच्ची धार्मिक भावना और मिज़ाज के प्रकाश में वास्तव में समझी जा सके, न कि हमारे मौजूदा पाठशालाओं द्वारा अनुसरण किए जाने वाले ग़लत, भटके हुए दृष्टिकोण से — जहाँ, अनेक वर्गीय पाठशालाओं में, संकुचित न्यायशास्त्रीय दृष्टिकोण वाले शिक्षक केवल क़ुरआन के एक या दो अध्याय, या महज़ एक-दो बड़ी सूरतें, महज़ औपचारिक बरकत के मामले के रूप में पढ़ाते हैं, और जहाँ हदीस को पाठ्यक्रम में केवल अत्यंत सतही, टोकन ढंग से शामिल किया जाता है। इस तरह अक्सर ऐसा होता है कि हमारे अपने विद्वान भी, इन्हीं संस्थानों से स्नातक होकर, क़ुरआन की अपनी शिक्षा की गहरी भावना, विभिन्न शाखाओं, उपशाखाओं से अपरिचित रह जाते हैं, और उन बड़े उद्देश्यों, लक्ष्यों से भी

अपरिचित रह जाते हैं जिन्हें शरीयत ने हमेशा अपनी चिंता के केंद्र में रखा है। यही वे वर्गीय फ़िक़्ह पाठशालाएँ हैं जिन्होंने एक ऐसी क़ानूनी मानसिकता पैदा की है जो हर विशेष पाठशाला की विशेष क़ानूनी शाख़ को इस्लाम के सच्चे उद्देश्यों की तुलना में उस विशेष फ़िक़्ह पाठशाला की विशिष्ट चिंताओं से अधिक निकटता से जोड़ती है, और यही मानसिकता है जिसने, हमारे अपने देश में, वर्गीय विभाजन, और इतने गंभीर पूर्वाग्रह उत्पन्न किए हैं, कि उन्होंने शरीयत के सबसे महत्वपूर्ण अंतर्निहित उद्देश्यों और मक़सदों को कभी ठीक से ध्यान दिए जाने से पूरी तरह रोक दिया है। यही वह पूर्वाग्रह है जिसे हम अब दूर करना चाहते हैं।

अदालती निज़ाम की इस्लाह (न्यायिक व्यवस्था का सुधार)

इस्लामी क़ानून के प्रवर्तन को व्यावहारिक बनाने के लिए न्यायिक व्यवस्था में भी कुछ बड़े बदलाव ज़रूरी होंगे। इस चर्चा में मैं केवल कुछ संक्षिप्त बिंदुओं को छूऊँगा; लेकिन यहाँ कुछ ऐसे मामले हैं जो इस्लामी दृष्टिकोण से बहुत महत्व रखते हैं।

पेशा-ए-वकालत का इंसिदाद (वकालत के पेशे का उन्मूलन)

वकालत के पेशे में जिस पहले सुधार की ज़रूरत है, वह तकनीकी मामला कम, नैतिकता का मामला ज़्यादा है — इसके औचित्य में क़ानूनी रूप से एक भी शब्द ऐसा नहीं मिल सकता जो इससे भी बड़े अनगिनत अपराधों को उतनी ही आसानी से सही न ठहरा सके। इस दृष्टिकोण से, किसी मुक़दमे की पैरवी के लिए भुगतान पर आधारित पूरा वकालत का पेशा ही इस्लामी नैतिकता के किसी भी उचित मापदंड से मंज़ूर नहीं किया जा सकता, और इस्लाम की भावना और मिज़ाज इसके गहराई से ख़िलाफ़ है।

कोई कह सकता है: भुगतान पर आधारित वकालत के पेशे की शुरू में ज़रूरत ही क्या है, जब एक उचित इस्लामी अदालत में मुक़दमा एक ऐसे न्यायाधीश द्वारा तय किया जाना चाहिए जो क़ानून समझता हो और उसके सामने रखे गए मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को समझता हो? सिद्धांत रूप में इसकी ज़रूरत बिल्कुल नहीं होनी चाहिए — फिर भी एक वास्तविक, व्यावहारिक ज़रूरत है, और वह जायज़ भी है: ऐसा हो सकता है कि किसी मामले में दोनों पक्षों की क़ानून की समझ अलग-अलग हो, या किसी मामले में एक पक्ष की प्रस्तुति दूसरे की तुलना में अदालत के सामने अपने पक्ष में सही तथ्य रखने में अधिक प्रभावी हो। जो वास्तव में उपयोगी और लाभकारी है वह दोनों पक्षों के साक्ष्य पर आधारित अच्छी तरह से सूचित ज्ञान है, ताकि अदालत सही फ़ैसले तक पहुँच सके; लेकिन असली सवाल यह है कि क्या इस लाभ के लिए यह ज़रूरी है कि पैरवी और वकालत का पूरा तंत्र आजीविका, भुगतान पर किया जाने वाला व्यवसाय बन जाए। क्या आज का वकील अपने क़ानूनी ज्ञान के बाज़ार में बैठकर,

जो भी मामला उसके पास लाया जाए, उसे लेने के लिए तैयार रहता है, जो कोई भी शुल्क देकर उसे नियुक्त करे उसकी ओर से बहस करता है, बिना यह पूछे कि जो मामला उसे सौंपा गया है वह न्यायसंगत है या अन्यायपूर्ण, अमान्य, पापपूर्ण और आपराधिक — केवल इसलिए कि नियुक्त करने वाले ने देय शुल्क अदा कर दिया है और दूसरे पक्ष के ख़िलाफ़ कोई हक़ दावा किया है? वह कभी अपने ज़मीर से यह नहीं पूछता कि क्या उस दावेदार को उसका मामला हाथ में लेने का हक़ था भी या नहीं। और क्या उसका शुल्क इस बात की परवाह किए बिना देय है कि उसके मुवक्किल का मामला सही था या ग़लत, और चाहे वह उसके लिए न्याय हासिल कर पाए या न कर पाए? अपने मुवक्किल के मामले की पैरवी करने का उसका पेशेवर दायित्व इतना बड़ा है कि अगर सच्चाई उसके मुवक्किल के प्रतिकूल हो तो उसे अदालत से छिपाना, और जो कुछ भी उसके मुवक्किल के पक्ष में हो उसे बढ़ा-चढ़ाकर पेश करना, उसका पेशेवर कर्तव्य बन जाता है। काश कोई समझदार वकील स्वयं से पूछे: क्या इस क़ानूनी पेशे और नैतिक ज़मीर के बीच कोई वास्तविक संबंध है भी? क्या सच्चे नैतिक ज़मीर वाला व्यक्ति, न्याय और सच्चाई के प्रति कर्तव्य से, दोषी की पैरवी ले सकता है, और अत्याचारी व दोषी को उसके ही अपराध के बोझ से बाहर निकाल सकता है? और क्या ऐसा करने वाला व्यक्ति, जो इसके लिए शुल्क भी वसूल करता है, इससे उत्पन्न अपराध का बोझ सह सकता है, और उससे अविचलित रह सकता है? यही वे सवाल हैं जो लोग तब पूछते हैं जब हमारे युग के प्रमुख वकील सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करते हैं; तब हम देखते हैं कि उनका वहाँ आचरण, वास्तव में, उसी चरित्र को दर्शाता है — वही चरित्र जो उन्होंने पहले ही अपने पेशे को अपनाने में दिखाया था।

यह ऐसा मामला है जिसे कोई भी व्यक्ति जो इस क्षेत्र में इस्लाम की भावना और मिज़ाज को समझता है, इस्लाम द्वारा पिछले लगभग बारह शताब्दियों में विकसित अनुशासित, सिद्धांतवादी नैतिक संस्कृति के पूरी तरह विपरीत पाएगा। हमारे बहुत कम न्यायविदों ने हर क़स्बे में एक स्वतंत्र मुफ़्ती नियुक्त करने की पुरानी व्यवस्था को, जो ज़रूरतमंद को स्वतंत्र और बिना शुल्क सलाह देता था, पूरी तरह पुनर्जीवित करने की इच्छा दिखाई है।

हालाँकि, हमारे मौजूदा युग की यह एक मज़बूत माँग है — क्योंकि आज के रोज़मर्रा के मामलों और व्यापार व उद्योग में विशेषज्ञता ने राज्य के अपने आधिकारिक तंत्र से अलग, क़ानून की हर शाख़ और क्षेत्र में विशेषज्ञ सलाह की ज़रूरत पैदा कर दी है — कि सबसे सक्षम लोगों में से, वेतनभोगी, क़ानून के विशेषज्ञों की आधिकारिक नियुक्ति की जाए, ताकि किसी मामले के दोनों पक्षों में से कोई भी उचित व्यक्ति उनके पास जाकर उनकी पेशेवर सलाह ले सके और अपना मामला सही रूप में तैयार करने में सहायता प्राप्त कर सके। इन अधिकारियों द्वारा दी गई सलाह को मामले की सुनवाई करने वाली अदालत द्वारा बाध्यकारी मानने की ज़रूरत नहीं है — न ही इस बात का कोई स्पष्ट, वास्तव में धार्मिक कारण है कि इस व्यवस्था को किसी अन्य उपयुक्त तरीक़े से बेहतर माना जाए, बशर्ते ऐसा कोई आधिकारिक निकाय यह काम ईमानदारी और निष्पक्षता से करे और सही क़ानूनी सलाह दे।

महत्वपूर्ण यह है कि किसी मामले के पक्षकारों और उनके सलाहकारों का तथ्यों की बेईमान, भ्रामक प्रस्तुति में कोई वास्तविक, वित्तीय या अन्य हित न हो जो न्याय की ज़रूरतों को धुंधला और नुक़सान पहुँचाए।

यह स्वाभाविक रूप से यह व्यावहारिक सवाल उठाता है कि क्या इस आधार पर पर्याप्त रूप से तैयार विशेषज्ञ वास्तव में मौजूद हैं जो इस योजना के तहत अदालतें स्थापित कर सकें — और ईमानदार जवाब यह है कि फ़िलहाल ऐसे लोग बहुत कम हैं, और हर ज़िले, शहर और उपज़िले में इस काम के लिए ज़रूरी संख्या में विशेषज्ञों को खोजने, प्रशिक्षित करने और अनुशासित करने में काफ़ी समय लगेगा। यही वजह है कि उचित संक्रमण अवधि के लिए निश्चित समय-सीमाएँ दी जानी चाहिए, ताकि पहले से अभ्यासरत कोई भी स्थापित वकील, अगर वह चाहे, तो समय के साथ ग़ैर-आधिकारिक से आधिकारिक हैसियत में स्थानांतरित हो सके।

कोर्ट फ़ीस का इंसिदाद (अदालती शुल्क का उन्मूलन)

न्यायिक व्यवस्था के सुधार के लिए यह भी ज़रूरी है कि न्याय के इस्लामी मापदंड मज़बूती से स्थापित किए जाएँ — ताकि न्याय को सामान बेचने की दुकान न बना दिया जाए, जिसमें जो ज़रूरी धन नहीं जुटा सकता वह न्याय से वंचित रह जाए, और जो अन्याय झेल रहा है वह केवल धन की कमी के कारण अपने उल्लंघित अधिकारों की भरपाई न पा सके। हम वह दिन देखना चाहते हैं जब न्याय एक बार फिर, जैसा हमारे सबसे अच्छे दौर में था, पूरी तरह मुफ़्त हो — एक इस्लामी न्याय व्यवस्था द्वारा केवल ईश्वर के लिए दी जाने वाली सेवा, महज़ एक व्यावसायिक लेन-देन नहीं बल्कि इबादत और वास्तव में एक प्रकार की सेवा के रूप में मानी जाए।

आप पूछ सकते हैं: मौजूदा अदालती शुल्क वसूलने की व्यवस्था समाप्त होने के बाद इससे होने वाले ख़र्च को पूरा करने के लिए धन कहाँ से आएगा? यह एक वैध, और वास्तव में एक महत्वपूर्ण व्यावहारिक सवाल है, जो एक गंभीर और सावधान जवाब का हक़दार है, और इस क्षेत्र के विशेषज्ञों द्वारा तैयार की गई एक ठीक से बनाई गई योजना का हक़दार है।

ख़ातिमा-ए-कलाम (समापन)

ये कुछ प्रस्ताव हैं जो, मेरे अपने विचार में, इस देश में इस्लामी क़ानून के प्रवर्तन को हक़ीक़त बनाने, व्यवहार में लाने के लिए ज़रूरी और व्यावहारिक लगते हैं। मुझे उम्मीद है कि यहाँ मौजूद विद्वान लोग और क़ानूनी विशेषज्ञ जिन्हें न्यायिक व्यवस्था और क़ानून के मामलों में व्यावहारिक रुचि है, वे इन प्रस्तावों पर उचित विचार करेंगे और इन्हें पूरी तरह पूर्ण करेंगे। मैं समझता हूँ कि यहाँ मौजूद हर कोई मेरे द्वारा प्रस्तावित हर बात से ज़रूरी नहीं पूरी तरह संतुष्ट हो, और मैं पूरी तरह स्वीकार करता हूँ कि कुछ लोगों को लग सकता है कि यह प्रस्ताव संभवतः काम

नहीं कर सकता, या यह व्यवहार में वास्तव में व्यावहारिक नहीं है, लेकिन जैसा मैंने पहले ही शुरुआत में कहा था, आज यहाँ मेरा उद्देश्य केवल इस विषय को उठाना, और यह स्पष्ट करना था कि यह सुधार, और इसके लिए ज़रूरी इरादा और दृढ़ संकल्प, और इसे आगे बढ़ाने के लिए उपलब्ध व्यावहारिक संसाधन और साधन, मौजूद हैं, और उनके साथ, इस निर्माण के लिए वास्तव में जो कुछ भी ज़रूरी है, वह वास्तव में हासिल किया जा सकता है। लोग जो कुछ भी इस दुनिया में पूर्ण होते देखना चाहते हैं, और जहाँ तक भी वे इसे ले जाना चाहते हैं, यह सब — वास्तव में, सब कुछ — बनाया जा सकता है, चाहे वह मस्जिद हो या मंदिर।